प्रकाशक—
जगपति चतुर्वेदी, हिन्दी-भूषण, विशारद
अध्यक्ष—आदर्श ग्रंथमाला
दारागंज, प्रयाग।

मुद्रक—रघुनाथप्रसाद वर्मा,
नागरी प्रेस,
दारागंज, प्रयाग।

# विषय-सूची



——

# मोक्ष का मार्ग

## १—साधना के पथ पर

जो लोग आध्यात्मिक उत्कर्ष उपलब्ध करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं, उनमें ज्ञान या प्रज्ञा के विकाश के लिए अन्य समस्त सद्गुणों की अपेक्षा शम और दम का पहले ही प्रादुर्भाव होता है। ये दोनों ही सद्गुण साथ-साथ सम्पादित किये जा सकते हैं। शम और दम का उद्देश्य इन्द्रियों को उनकी नियमित सीमा के अन्तर्गत नियन्त्रित रखना है। इन्हीं के कारण इन्द्रिया विपथगामिनी नहीं होने पातीं।

यहाँ पहले यह बतला देना आवश्यक है कि इन्द्रिय किसे कहते हैं। प्राणिमात्र के शरीर में नेत्र होते हैं। इन्हीं के द्वारा हर एक प्राणी अपने आस-पास की समस्त वस्तुओं को देखता है। वास्तव में ये नेत्र ही वह इन्द्रिय नहीं हैं, जिसके द्वारा हम देख पाते हैं। नेत्र तो उस इन्द्रिय के करण अर्थात् सहायक यन्त्र-मात्र हैं। उस इन्द्रिय के बिना नेत्रों के रहने पर भी हम किसी भी पदार्थ को नहीं देख सकते। परन्तु उस इन्द्रिय तथा उसके करण अर्थात् नेत्रों के रहते हुए भी मन के संयोग के बिना देखने की क्रिया नहीं सम्पन्न होती। इस प्रकार अनुभव या बाह्य वस्तुओं के ज्ञान की प्रत्येक क्रिया के निष्पन्न होने के लिए तीन वस्तुओं का होना आवश्यक है—(१) बाह्य करण (२) आभ्यन्तरिक इन्द्रियाँ और (३) मन। इनमें से यदि एक का भी अभाव हुआ, तो अनुभाव की कोई भी क्रिया निष्पन्न नहीं की जा सकती। इससे यह सिद्ध हुआ कि मन दो माध्यमों के द्वारा अपने समस्त कार्यों का सम्पादन किया करता है—(१) बाह्य और (२) आभ्यन्तरिक।

जब हम भिन्न-भिन्न पदार्थों को देखते हैं, तब हमारा मन बहिर्भूत हो जाता है। परन्तु मान लो कि हम अपने नेत्र मूँद लेते हैं और किसी विषय पर विचार करने लगते हैं। उस दशा में हमारा मन बाहर नहीं जाता, वह भीतर ही भीतर क्रियाशील रहता है। परन्तु किसी भी दशा में इन्द्रियों की ही क्रियाशीलता रहती है। जब हम तुम्हारी ओर देखते हैं या तुमसे बातचीत करते हैं, तब दोनों ही इन्द्रियाँ और उनके करण क्रियाशील रहते हैं। जब हम अपने नेत्रों को मूँद लेते हैं और कुछ सोचने लगते हैं, तब इन्द्रियाँ तो क्रियाशील रहती हैं, किन्तु उनके करण नहीं। इन इन्द्रियों की क्रियाशीलता के बिना विचार का प्रादुर्भाव नहीं होता।

तुम यह अनुभव करोगे कि किसी आदर्श के बिना तुम में से कोई भी नहीं सोच सकता। जो मनुष्य दृष्टिहीन होता है, वह भी किसी वस्तु की प्रतिमा का आधार लेकर ही अपनी चिन्तन-शक्ति का प्रयोग किया करता है। साधारणतः चक्षु और श्रवण-इन्द्रियाँ बहुत ही क्रियाशील होती हैं। यह स्मरण रखने की बात है कि इन्द्रिय शब्द का तात्पर्य्य मस्तिष्क में वर्त्तमान स्नायु-केन्द्र से है। कर्ण और नेत्र सुनने और देखने के करण-मात्र हैं, इनकी इन्द्रियाँ तो भीतर ही होती हैं। यदि किसी कारण से इन्द्रियाँ नष्ट हो जायँ तो कर्णों और नेत्रों के वर्त्तमान रहने पर भी हम सुन या देख नहीं सकते। इस कारण मन पर नियन्त्रण रखने के लिए पहले हमें इन इन्द्रियों को अपने वश में करने की शक्ति प्राप्त करनी चाहिए। बहिर्भूत होकर या भीतर रह कर ही भटकने से मन को रोक रखने तथा इन्द्रियों को अपनी अपनी नियमित सीमा के अन्तर्गत ही रखने का अर्थ शम और दम है। शम का तात्पर्य्य है मन को बहिर्भूत होने से रोक रखना और दम का वाह्य करणों को दबा रखना।

शम और दम के बाद तितिक्षा का अभ्यास करना आवश्यक है।

दार्शनिक होना बहुत ही कठिन बात है। यह आदर्श सहनशीलता से किसी क़दर कम नहीं है। इसका अर्थ है अपने प्रतिकूल विषयों का अविरोध। इस विषय को ठीक-ठीक समझाने के लिए कुछ विस्तृत व्याख्या करनी आवश्यक है। हम अपने प्रतिकूल विषयों का प्रतिरोध कर सकते हैं, परन्तु उसके साथ ही हमें अपने हृदय में बहुत ही क्लेश का अनुभव करना पड़ेगा। सम्भव है, कोई आदमी हमें बहुत ही अप्रिय बात कह बैठे और प्रकट रूप से हम उसके लिए उस आदमी के प्रति तनिक भी घृणा का भाव न व्यक्त होने दें और बदले में उसे कोई अप्रिय बात भी न कहें, साथ ही प्रत्यक्ष रूप से क्रोध का भाव भी न व्यक्त होने दें। परन्तु उस व्यक्ति के प्रति हमारे हृदय में घृणा और क्रोध का भाव वर्त्तमान रहेगा और हम उससे बहुत बुरा मानेंगे। इस तरह का भाव अविरोध (सहिष्णुता) नहीं कहलाता। हमारा हृदय घृणा या क्रोध के भाव से सर्वथा शून्य होना चाहिए। अप्रिय वचन कहनेवाले से किसी प्रकार का बदला लेने का भाव हमारे हृदय में न होना चाहिए। उस समय हमारा मन बहुत ही शान्त और निर्विकार होना चाहिए, मानो कोई बात हुई ही नहीं। जब हम इस अवस्था में पहुँच जायँ, तभी हममें अविरोध का भाव आता है, इससे पहले नहीं।

इस तरह के क्लेशों को प्रसन्नतापूर्वक सहन कर लें और प्रतिकार का भाव मन में तनिक भी न आने पावे, मन में न तो किसी प्रकार की वेदना का भाव हो और न अनुताप ही हो, इस प्रकार की मानसिक अवस्था का ही नाम तितिक्षा है। मान लो कि कोई हमारा किसी प्रकार का अनिष्ट करता है और किसी प्रकार का प्रतिकार न करके हम उसकी उपेक्षा करते हैं। अन्त में चल कर हमारी इस उपेक्षा के परिणाम-स्वरूप हमारे लिए कोई विशेष अनिष्टकर बात पैदा हो जाती है। हमारे हृदय में यदि तितिक्षा का भाव आ गया होगा तो

उस अवस्था में हम ज़रा भी अनुताप न करेंगे। इस कक्षा की यही परीक्षा है। मन जब ऐसी अवस्था में पहुँच जाय तब समझना चाहिए कि हमारे अन्तःकरण में तितिक्षा का समावेश हो चुका है और हम इस कक्षा को उत्तीर्ण कर चुके हैं। इस तितिक्षा का अभ्यास करने के लिए भारत के कितने ही महात्मा असाध्य साधना किया करते हैं। वे कड़ाके की सर्दी के समय शीतल जल में प्रविष्ट होकर और गर्मी के प्रचण्ड उत्ताप में भी अग्नि का प्रखर ताप सहन कर बहुत ही प्रसन्न भाव से अपना न जाने कितना समय व्यतीत कर देते हैं। बात यह है कि शरीर की ओर उन्हें किसी प्रकार का ध्यान ही नहीं रहता, वह तो उनके लिए नगण्य वस्तु हो जाती है। यही कारण है कि शीतल से शीतल तुषार में भी वे इतने मग्न रहते हैं, मानो उनका शरीर उनकी कोई चीज़ ही नहीं है।

अब उपरति की बारी आती है। विषयों का चिन्तन न करने से ही उपरति आती है। हमारा अधिकांश समय इंद्रियगत विषयों के चिन्तन में ही व्यतीत होता है। जिन वस्तुओं को हमने देखा है, जिनके सम्बन्ध में कुछ सुना है और जिनको देखेंगे, या जिनके विषय में सुनेंगे; जिन वस्तुओं को हमने खाया है, खाते हैं या खायँगे; जिन जिन स्थानों में हम रह चुके हैं, रहते हैं या रहने की सम्भावना है; उन सबके सम्बन्ध में चिन्तन या बातचीत करने में ही हमारा अधिकांश समय व्यतीत होता है। जो कोई भी व्यक्ति वेदान्ती होना चाहे, उसे यह आदत छोड़ देनी होगी।

दूसरा गुण जो आवश्यक है, वह श्रद्धा है। मनुष्य को धर्म तथा ईश्वर में अपरिमित विश्वास होना चाहिए। हृदय में श्रद्धा का प्रादुर्भाव हुए बिना मनुष्य ज्ञानी होने की अभिलाषा नहीं कर सकता। एक बार एक सिद्ध पुरुष ने मुझसे कहा—इस संसार में लाखों मनुष्यों में से एक भी व्यक्ति ईश्वर में विश्वास नहीं रखता। मैंने जब

जितने भी क्लेशों का सहन करते हो, वे स्वयं तुम्हारे ही उत्पन्न किये हुए हैं। दूसरा कोई भी ऐसा नहीं है, जो तुम्हें किसी तरह दुख उठाने के लिए विवश कर सके। तुम स्वयं अपने ही कर्मों के दोष से जीवन-मरण के फन्दे में पड़े रहते हो। तरह-तरह की आशा-निराशा और मान-अपमान, जो तुम क्षण-क्षण पर सहन करते रहते हो, उसके कारण भी तुम स्वयं हो।

हम जितने भी क्लेश सहन करते हैं, वे सब स्वयं हमारे ही वरण किए हुए हैं, इस तरह का हमारा स्वभाव ही है। चीन देश का एक आदमी किसी भीषण अपराध के कारण क़ैद था। साठ वर्ष तक क़ैद रहने के बाद वह एक सम्राट् के राज्याभिषेक के उपलक्ष में मुक्त कर दिया गया। इतने समय तक चूहों और छुछियों के बीच में अन्धकार-मय कारागार में रहने के बाद जब वह बाहर निकला तब यहाँ की रोशनी और हवा उसे असह्य हो गई। वह चिल्लाकर कहने लगा कि मुझे फिर उसी कारागार में वापस करदो, अन्यथा इस वायुमण्डल में जीवित छोड़ देने की अपेक्षा तो मार डालना ही अच्छा है। अन्त में वह फिर उसी कारागार में वापस भेज दिया गया। ठीक यही दशा और लोगों की भी है। हम लोग हर तरह के दुःखजनक विषयों की ओर अन्ध भाव से दौड़ते हैं, उनसे मुक्त होनेकी लेशमात्र भी इच्छा नहीं करते। हम सुखोंकी ओर प्रतिदिन दौड़ते हैं, परन्तु उनके समीप तक पहुँच भी नहीं पाते, वे कोसों दूर निकल जाते हैं। कभी कभी तो ऐसा लगता है कि मानों हम उन्हें पकड़ने का उद्योग करते हैं और वे उँगलियों के बीच से सटक जाते हैं। इतने पर भी पागल की तरह हम व्यग्र भाव से उनके पीछे दौड़ते ही रहते हैं। इस दिशा में हम जितना भी उद्योग करते हैं, उतना ही हमें बेवकूफ बनना पड़ता है।

भारत में कोल्हू में बैल जोतकर तेल निकाला जाता है। बैल की गरदन पर एक जुआ रक्खा रहता है और उससे बँधी हुई एक

छोटी सी लकड़ी आगे की ओर निकली रहती है जिसमें प्रायः हरी घास का एक गुच्छा बाँध दिया जाता है। यह गुच्छा बैल के बिलकुल सामने की ओर झूलता रहता है। बैल की आँखों में एक तरह के ढक्कन से लगे रहते हैं, जिनके कारण वह केवल आगे की ओर देख पाता है। घास के लोभ से बैल आगे की ओर क़दम बढ़ाता है, जिससे कोल्हू घूम जाता है और दाब पाकर उसमें डाले हुए तेलहन से तेल निकल आता है। एक बार असफल होकर बैल दूसरी बार भी घास खाने का प्रयत्न करता है, परन्तु फिर भी उसकी वही दशा होती है। इस प्रकार घास खाने के लोभ से बैल कितने ही चक्कर लगा जाता है, अन्त में उसकी सारी आशा वैसी की वैसी ही रह जाती है। सेरों तेल निकालकर भी घास का एक तिनका तक वह नहीं खा पाता। उसी तरह हम तुम सभी लोग, जो प्रकृति के दास होकर संसार में पैदा हुए हैं, धन-विभव और स्त्री-बच्चों के फेर में रात-दिन पड़े रहते हैं, ठीक कोल्हू के बैल की ही तरह विषय-रूपी घास के तिनकों की आशा में निरन्तर पड़े रहते हैं और अगणित जीवन-मरण के फेरे लगाते रहते हैं। हमारी भी निराशा सदा वैसी की वैसी बनी रह जाती है।

मनुष्य की सब से बढ़ कर कामना की वस्तु प्रेम है। प्रेम का ही सौदा करने के लिए हम जीवन में अग्रसर हो रहे हैं। हम सभी लोग सुखी रहने का प्रयत्न करते हैं। चाहते हैं कि इस जीवन-यात्रा में हम दुख का सामना करने का अवसर कभी न पावें। परन्तु जैसे ही जैसे सुख की ओर हम पैर बढ़ाते जाते हैं, वैसे ही वैसे वह पीछे हटता जाता है। इस तरह संसार काल की ओर बढ़ता जा रहा है, समाज भी उसी ओर अग्रसर होता जा रहा है, और हम सब प्रकृति के अन्धदास बे जाने-समझे क्लेश सहते फिरते हैं।

स्वयं अपने जीवन पर गम्भीरतापूर्वक विचार करो। देखो, इसमें सुख की मात्रा कितनी कम है। सचमुच में इस आकाश-कुसुम

के फेर में पड़े-पड़े कितनी न्यूनतम मात्रा में इसे प्राप्त कर सके हो !

सोलन और क्राइसस की कहानी तो आप जानते ही होंगे। सोलन एक साधु था और क्राइसस एक बादशाह। क्राइसस ने उस महात्मा से कहा कि एशिया माइनर एक बहुत ही सुखमय स्थान है। इसके उत्तर में साधु ने कहा—यदि यह सुखमय स्थान है तो यहाँ सब से बढ़ कर सुखी कौन सा व्यक्ति है ? मुझे तो कोई भी ऐसा सौभाग्यशाली नहीं दिखाई पड़ता। क्राइसस ने रुष्ट होकर कहा—पागल साधु, संसार में मैं ही सब से बढ़ कर सुखी हूँ।

बादशाह की बात सुनकर साधु हँस पड़ा। उसने कहा—घबड़ाइए न महाशय, जीवन भर देखते चलिए, कभी न कभी आपको भी मालूम हो जायगा कि मैं कितना सुखी हूँ। यह कह कर वह साधु चला गया। कुछ समय के बाद क्राइसस पर फ़ारस के बादशाह ने चढ़ाई करके उसे जीत लिया। अन्त में क्राइसस बन्दी हुआ और विजयी राजा ने आज्ञा दी कि इसे जीते ही जला दो। फ़ारस के बादशाह की आज्ञा से चिता तैयार की गई और क्राइसस बन्दी अवस्था में वहाँ पर लाया गया। चिता को देख कर क्राइसस ने एक लम्बी साँस ली और आर्तस्वर से चिल्ला उठा—सोलन ! सोलन !

फ़ारस के बादशाह ने क्राइसस का हाल जानने की इच्छा प्रकट की और यह भी पूछा कि ऐसे अवसर पर सोलन को स्मरण करने का कारण क्या है। इस पर क्राइसस सारी कहानी सुना गया। बादशाह के हृदय पर इस कहानी का बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने क्राइसस को जीवन-दान दे दिया।

ठीक यही कथा हममें से प्रत्येक के जीवन की है। हमारे ऊपर प्रकृति का इतना भयङ्कर प्रभाव है। वह हमें कितनी ही बार पैर से ठोकर मार कर दूर कर देती है, परन्तु फिर भी हम क्षणिक उत्तेजना के

कारण उसका बार-बार अनुसरण किया करते हैं। हम एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी आशा करते जाते हैं. ऊटपटाँग की कल्पनाएँ हमें पागल कर देती हैं, हम सदा सुख की आशा में पड़े रहते हैं।

यही भारतवर्ष की बात है। प्राचीन काल में किसी प्रसिद्ध राजा से चार प्रश्न किये गये थे। उनमें से एक यह भी था कि संसार में सब से आश्चर्यजनक कौन सी वस्तु है? इसके उत्तर में उस राजा ने कहा—आशा। यही सब से आश्चर्य्यजनक वस्तु है। हमारे आस-पास चारों ओर कितने ही आदमी रोज़ मरा करते हैं और उन्हें हम अपनी आँखों से देखते हैं। इतने पर भी हम यह सोचा करते हैं कि संसार में हम अमर होकर आये हैं। हम समझते हैं कि हमें कोई क्लेश ही न सहना पड़ेगा। हर एक आदमी की धारणा है कि सफलता मेरे ही हिस्से में पड़ी है। यही कारण है कि वह आशा पर आशा करता जाता है। परन्तु वास्तव में यहाँ कोई भी सुखी नहीं है। यदि कोई व्यक्ति धनवान है और उसके पास भोजन की सामग्री आवश्यकता से अधिक है, तो उसकी पाचन-शक्ति ही ख़राब हो जाती है। वह खा नहीं पाता। इसके विरुद्ध जिसकी पाचन-शक्ति अच्छी होती है और वह खा भी अधिक सकता है, तो उसे दाँतों तले दाबने के लिए भी एक दाना नहीं मिलता। आदमी यदि धनवान् हुआ तो वह बच्चों ही के लिए तरसता रहता है और वह निर्धन हुआ और घर में भोजन तक का भी ठिकाना न हुआ तो विधाता उसके यहाँ बच्चों की पलटन खड़ी कर देते हैं! उनके मारे बेचारा पिता हैरान हो जाता है और उसकी समझ में नहीं आता कि किस तरह इनका पालन-पोषण किया जाय?

इन सब बातों का क्या कारण है? बात यह है कि सुख और दुःख दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, इसलिए जो सुख का ग्राहक होता है, वह दुःख को भी ग्रहण करने के लिए बाध्य है। हम सभी

लोग इस मूर्खतापूर्ण धारणा में पड़े हैं कि हम केवल सुख के ही अधिकारी हैं, दुःख हमारे पास तक न फटक पावेगा। यह धारणा हम लोगों पर इतना प्रबल प्रभाव जमाये हुए है कि हम इसे किसी तरह भी दबाने में समर्थ नहीं हो पाते।

जब मैं बोस्टन में था, तब किसी युवक ने आकर मुझे काग़ज़ का एक छोटा-सा टुकड़ा दिया। उस टुकड़े पर एक आदमी का और पता छपा था। उसके नीचे छपा था—संसार की सारी सम्पदा और सुख अपने हाथ में ही आया समझो, उन्हें उपलब्ध करने का ढंग भर मालूम होना चाहिए। यदि मेरे पास आओ तो वह ढंग सिखा दूँगा। फ़ीस केवल ५ शिलिंग।

काग़ज़ का टुकड़ा मेरे हाथ में देकर युवक ने उसके सम्बन्ध में मेरी सम्मति जानने की इच्छा प्रकट की। मैंने उत्तर दिया—भाई मेरे, इसे छपाने में रुपया क्यों बरबाद करते हो? इसकी छपाई भर का भी दाम तुम्हारे पास नहीं है।

युवक की समझ में मेरी यह बात न आई। वह इसी ख़याल में भूला हुआ था कि मैं अनायास ही अतुलित वैभव और सुख प्राप्त कर सकता हूँ। संसार में साधारणतः दो तरह का मत रखनेवाले मनुष्य रहते हैं। एक दल का तो यह मत है कि संसार में जो कुछ है, सभी मधुमय है, सभी कुछ आनन्द से परिव्याप्त है। दूसरा दल दुःखवादी है। इस दलवालों के विचार से इस भूमण्डल में दुःख क्लेश के अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं। इन दोनों ही दलों का विश्वास दृढ़ता को पराकाष्ठा तक पहुँच चुका है। पृथ्वी पर जितने भी मनुष्य हैं उनमें से अधिकांश की बुद्धि के विकास में थोड़ी-बहुत अपूर्णता रहती है। दस-बीस लाख में दो-एक आदमी ऐसे देखने में आते हैं, जिनकी बुद्धि समुचित रूप से विकसित हो चुकी है। उन्हें

छोड़कर और सभी लोग अपने-अपने ढंग के एक विशेष प्रकार के उन्माद या भ्रम में पड़े हैं।

अपनी धुन की पराकाष्ठा तक हम स्वभावतः पहुँच जाते हैं। जब तक हमारा शरीर तरुण और सबल रहता है, तब तक हम समझते हैं कि संसार की सम्पत्ति मेरे ही हाथ में आनेवाली है। परन्तु बाद को वृद्ध होने पर जब शरीर का बल घट जाता है, और समाज पैर से ठोकर मारकर फुटबाल की तरह हमें दूर फेंक देता है, तब हम एक कोने में बैठकर विलाप करते हैं और दूसरों के उत्साह पर ठण्डा पानी छोड़ते हैं। कुछ लोगों की धारणा है कि सुख के साथ दुःख रहता है और दुःख के साथ सुख; अतएव दुःख के ही समान सुख भी विरक्ति-जनक है, क्योंकि यह दुःख का ही युगमजात सहोदर है। निरन्तर दुःख सहन करते रहना मनुष्य की महिमा के लिए हीनताजनक है। ठीक उसी तरह निरन्तर सुख का उपयोग करना भी उसके प्रस्तार में बाधा डालता है। जो लोग समदर्शी हैं, उनके लिए ये दोनों ही परित्याज्य हैं। मनुष्य इन सांसारिक विषयों के खिलौने बनकर रहने की अपेक्षा इनसे मुक्ति प्राप्त करने की चेष्टा क्यों न करे? इस समय मेरी पीठ पर एक कोड़ा लगा दिया गया और जब मैं रोने लगा तब प्रकृति ने ज़रा सी कोई रुचिकर वस्तु देकर फुसला दिया। बाद को कोड़े की मार खाकर हम फिर रोते हैं और प्रकृति ज़रा सी सुस्वाद वस्तु चटाकर हँसा देती है।

जो लोग विवेकशील हैं, वे मुक्ति चाहते हैं। उनकी दृष्टि में ये सारे विषय निरर्थक हैं। संसार में सुख और दुःख का अन्त नहीं है। वहाँ कितने ही ऐसे वैभवशाली जन हैं, जो नित्य अभिनव सुखों के ही फेर में पड़े रहते हैं। उनकी दृष्टि में सभी तरह की सुखदायक वस्तुएँ एक दिन के बाद प्राचीन हो जाती हैं, उनके स्थान पर वे नवीन वस्तुएँ प्राप्त करने की चिन्ता में निमग्न हो जाते हैं। आप

स्वयं देखते होंगे कि इस तरह के लोग प्रतिदिन कितनी घृणायोग्य वस्तुओं का अनुसन्धान करते आ रहे हैं। इनको यह सारी शक्ति केवल क्षण भर के लिए इंद्रियों को तृप्त करने में ही चरितार्थ होती है। क्षण भर रसास्वादन कर लेने के बाद दूसरे ही क्षण उससे विरक्ति भी हो जाती है। अधिकांश जन-समुदाय भेड़ों के झुंड के समान है। यदि आगे की भेड़ किसी खोह में कूद पड़ती है तो उस झुण्ड की और भी सभी भेड़ें उसका अनुसरण करती हैं और उसी के पीछे सबकी सब चोट खाती हैं। ठीक इसी तरह समाज का एक प्रमुख व्यक्ति जो कुछ करता है, वही कार्य दूसरे लोग भी करते हैं, उचित अनुचित का विचार नहीं करते। यदि कोई भी व्यक्ति सांसारिक वस्तुओं की असारता पर विचार करे तो उसे यह अनुभव करना पड़ेगा कि इस तरह सांसारिक विषयों के हाथ का खिलौना या उनका दास बनकर रहना हमारे लिए युक्तिसंगत नहीं है। यह दासता है। किसी से दो-एक मीठी बातें कर ली गईं तो वह मुस्कराने लगता है। इसके विरुद्ध उसे यदि एक कड़ी बात कह दी गई तो उसकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लग जाती है। मनुष्य टुकड़े भर रोटी, थोड़े से वस्त्र और ज़रा सी हवा भर का दास है। देशभक्ति का, देश का, नाम का और यश का दास है।

इस प्रकार वास्तविक मनुष्य अपने बन्धन के कारण दासता की बेड़ी में जकड़ा रहता है। परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि मनुष्य दास है। कोई भी व्यक्ति जब इस दासता का अनुभव कर लेता है तब उसके हृदय में मुक्ति की अभिलाषा उत्पन्न होती है। यह अभिलाषा बहुत ही वेगवती हो उठती है। यदि किसी भी व्यक्ति के मस्तक पर जलते हुए कोयले की चिनगारी रख दी जाय तो उसे उठा कर फेंक देने के लिए वह कितना छटपटाता है! इसी तरह मनुष्य को जब यह सचमुच ज्ञान हो जायगा

कि मैं सांसारिक विषयों का दास हूँ तब वह मुक्ति के लिए व्यग्र हो उठेगा।

अब हम मुमुक्षत्व या मुक्त होने की अभिलाषा के सम्बन्ध में विचार कर चुके। इसके बाद का अभ्यास और भी अधिक कठिन है। यह है नित्यानित्य विवेक—अर्थात् इस विषय का ज्ञान प्राप्त करना कि कौन सी वस्तु नित्य है और कौन सी अनित्य। संसार में क्या शाश्वत और चिरस्थायी है और क्या अनित्य। केवल ईश्वर ही एक मात्र शाश्वत है, उसके अतिरिक्त सब अनित्य है। सभी वस्तुएँ नष्ट हो जाती हैं। मनुष्य, पशुपक्षी, सूर्य, चन्द्रमा, तारे और पृथ्वी सभी नश्वर हैं। इन सबमें निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। जहाँ आज पर्वत हैं, वहीं कल अगाध सागर था और आज के पर्वत कल फिर अनन्त जलराशि के रूप में परिणत हो जायँगे। सभी वस्तुएँ प्रवाह के रूप में हैं। यह सारा विश्व परिवर्तनों का एक बहुत बड़ा समूह है। परन्तु इसमें एक ऐसी भी शक्ति है, जो कभी नष्ट नहीं होती। वह है ईश्वर। हम जितना ही उसके समीप पहुँचते हैं उतना ही हमारे लिए परिवर्तनों का अभाव होता जाता है, उतना ही सांसारिक विषय हमारे ऊपर प्रभाव डालने में असमर्थ होते जाते हैं। जब हम उसे पा जायँगे और उसके समीप खड़े होने में समर्थ हो जायँगे तब हम प्रकृति को—सांसारिक विषयों को—विजय कर लेंगे। उस दशा में हम सांसारिक विषयों के स्वामी हो जायँगे, वे हमारे ऊपर प्रभाव न डाल सकेंगे। जब हम वास्तविक रूप से यह शिक्षा प्राप्त कर लें तब हमें संसार में और किसी वस्तु की आवश्यकता ही न रह जायगी। सारा ज्ञान हमारे अन्तःकरण में निहित है। सारी पूर्णता हमारी आत्मा में ही है। परन्तु यह पूर्णता प्रकृति—संसार के विषयों—के द्वारा आच्छादित है। ये विषय स्तर के स्तर लगा कर आत्मा की पवित्रता को समाच्छादित कर रहे हैं। हमें क्या करना है? सचमुच हम अपनी आत्मा का कुछ

भी विकाश नहीं करते। इस पूर्ण का विकाश कैसे कर सकते हैं? हम केवल आवरण को हटा भर देते हैं—और आत्मा अपने पूर्वकालीन पवित्र रूप में स्वयं झलकने लगता है। इसकी स्वभावसिद्ध स्वाधीनता सुस्पष्ट हो जाती है।

अब प्रश्न यह उदय होता है कि यह शिक्षा आवश्यक क्यों है? बात यह है कि धर्म—ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान—कानों, नेत्रों या मस्तिष्क के द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता। धर्मशास्त्र हमें तत्वदर्शी बनाने में समर्थ नहीं हो सकते। संसार में जितने ग्रन्थ उपलब्ध हो सकते हैं, उन सभी का पारायण करके भी हम धर्म या ईश्वर के सम्बन्ध में एक भी शब्द नहीं समझ सकते। जन्म-जन्मान्तर तक वाद-विवाद करके भी हम इस विषय का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। यह भी सम्भव है कि संसार में जितने भी प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति हुए हैं, उन सभी से हमारी प्रतिभा बढ़ जाय, परन्तु फिर भी हम ईश्वर के समीप तक पहुँचने में ज़रा भी समर्थ नहीं हो सकते। कभी-कभी तो इसका परिणाम बिलकुल विपरीत ही देखने में आता है। इस बुद्धि-कौशल सम्बन्धी शिक्षा के द्वारा क्या कितने ही घोर अधार्मिक—नास्तिक—नहीं पैदा होते देखे गये? पाश्चात्य सभ्यता का यही सबसे बड़ा दोष है कि इसमें केवल बुद्धि-कौशल संबन्धी शिक्षा मनुष्य को स्वार्थी ही अधिक बनाती है। इसके द्वारा मनुष्य दसगुना स्वार्थ-परायण हो जाता है। इसका यही दोष एक दिन पाश्चात्य समाज के पतन का कारण बनेगा। यदि हृदय और बुद्धि में परस्पर विरोधी भाव दृष्टिगोचर हो तो हृदय का ही अनुसरण करना चाहिए। बात यह है कि प्रतिभा की एकमात्र मर्यादा युक्ति है। इस युक्ति के अन्तर्गत रह कर ही प्रतिभा काम करती है। इसके बाहर जाने में वह समर्थ नहीं है। केवल हृदय में इतनी शक्ति है कि वह हमें उच्चतम क्षेत्र तक पहुँचा सके। उस क्षेत्र तक पहुँचाना प्रतिभा का काम नहीं

है। हृदय प्रतिभा से बहुत दूर निकल जाता है, और वह उस स्तर तक पहुँच जाता है, जो अनुभूति के नाम से प्रसिद्ध है। प्रतिभा में तत्त्व-ज्ञान की अनुभूति कभी नहीं आ सकती। इसे प्राप्त करने में तो केवल हृदय ही—यदि उसमें ज्ञान का प्रकाश हुआ—समर्थ हो सकता है। कोई व्यक्ति कितना भी प्रतिभासम्पन्न हो, हृदयहीन होकर तत्वज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। हृदय ही एक ऐसा है जो सदा प्रेममय मनुष्य में बोलता है। हृदय अनुभूति के लिए ऐसे सुगम साधन का अनुसंधान कर सकता है, जिसका खोज निकालना प्रतिभा की शक्ति से परे है। सच बात तो यह है कि प्रतिभा ज्ञान का साधन है और हृदय अनुभूति का। प्रारंभिक अवस्था में हृदय प्रतिभा की अपेक्षा बहुत ही निर्बल होता है। एक अज्ञ पुरुष में सदसद् का विचार नहीं होता। उस आदमी की किसी एक बड़े प्रोफेसर से तुलना कीजिए। प्रोफेसर में कितनी अद्भुत क्षमता होती है। परन्तु प्रोफेसर अपनी प्रतिभा के कारण बहुत कुछ बन्धन में रहता है। इसके अतिरिक्त. जहाँ वह प्रतिभा-सम्पन्न होता है, वहीं पापात्मा भी हो सकता है। परन्तु जो व्यक्ति सहृदय होता है, वह कभी पापात्मा नहीं हो सकता। कोई भी भाव-प्रवण व्यक्ति पापात्मा होते नहीं सुना गया। यत्नपूर्वक अनुशीलन करते-करते हृदय विशेष रूपसे उन्नत किया जा सकता है और अन्त में जाकर यह प्रतिभा से बहुत आगे निकल जा सकता है। यही हृदय अनुभूति के रूप में परिणत किया जा सकता है। अन्त में मनुष्य को प्रतिभा से आगे बढ़ना ही पड़ेगा। मनुष्य का ज्ञान, उसकी अनुभव-शक्ति, तर्क, प्रतिभा और हृदय, इन सभी से इस संसार के दुग्ध का मन्थन करने के बाद मक्खन निकलता है और वह मक्खन ईश्वर है। जो लोग सहृदय होते हैं, वे 'मक्खन' के अधिकारी होते हैं और मथा हुआ दूध प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों के लिए पड़ा रह जाता है।

यह सारा उद्योग हृदय को प्रस्तुत करने के लिए है, प्रेम के लिए है, उस अपरिसीम सहानुभूति के लिए है, जो हृदय से सम्बद्ध है। ईश्वर को प्राप्त करने के लिए शिक्षित होना, शास्त्र का पारगामी होना ज़रा भी आवश्यक नहीं है। एक बार किसी महात्मा ने कहा था— किसी दूसरे व्यक्ति की हत्या करने के लिए मनुष्य को ढाल-तलवार से सुसज्जित होने की आवश्यकता पड़ती है, परन्तु स्वयं अपनी ही हत्या करने के लिए एक सुई यथेष्ट होती है। इसी तरह दूसरों को उपदेश देने के लिये विशेष प्रतिभा और अध्ययन आवश्यक है, परन्तु स्वयं आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए यह सब इतना आवश्यक नहीं है। क्या हृदय पाप-रहित है? यदि हाँ, तो ईश्वर को प्राप्त करने में समर्थ हो सकोगे। जो लोग ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त करके धन्य हो जाते हैं, उनका हृदय निष्पाप है, वे ईश्वर का दर्शन करेंगे। यदि तुम पाप-रहित नहीं हो, तो संसार की सारी विद्याओं के पारदर्शी होकर भी इस विषय में ज़रा भी सफलता न प्राप्त कर सकोगे। जितनी भर पुस्तकें तुम पढ़ोगे, उन्हीं के बीच में तुम दबे रहोगे, किन्तु उनसे तुम्हें कोई विशेष लाभ न होगा। वह हृदय है, जो लक्ष्य-स्थान पर पहुँचता है। हृदय का अनुसरण करो। पवित्र हृदय प्रतिभा से कहीं अधिक दूर तक देख सकता है, वह तत्त्वज्ञान प्राप्त करता है, वह उन वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, जिन्हें तर्क नहीं जान सकता। पवित्र हृदय और प्रतिभा में जब कभी परस्पर विरोधी भाव परिलक्षित हों तब सदा हृदय का ही पक्ष ग्रहण करना चाहिए, तुम चाहे भले ही यह समझते रहो कि मेरा हृदय जो कुछ कर रहा है, वह न्याय-संगत नहीं है। यदि तुम्हें किसी का उपकार करने की अभिलाषा हो, तो तुम्हारा मस्तिष्क यह बतलावेगा कि ऐसा करना नीति के अनुकूल नहीं है। परन्तु उस समय तुम अपने हृदय का अनुसरण करो। उस दशा में तुम्हें ज्ञात होगा कि मस्तिष्क का अनुसरण करने की अपेक्षा

हृदय का अनुसरण करने में बहुत कम भूल करता हूँ। सत्य को प्रतिबिम्बित करने के लिए निष्पाप हृदय ही सबसे सुन्दर आइना है। इसलिए ये सारी शिक्षाएँ नियम-पालन तथा कठोर व्रत आदि हृदय को विशुद्ध करने के ही लिए आवश्यक होते हैं। हृदय में विशुद्धता आते ही सारे तथ्य उसके ऊपर प्रस्फुटित हो जाते हैं। यदि तुम में यथेष्ट मात्रा में विशुद्धता होगी तो इस विश्व के सारे तथ्य तुम्हारे हृदय में अपने आप प्रस्फुटित हो जायँगे।

न जाने कितने युग बीत गये जब कि महात्माओं ने परमाणुओं के सम्बन्ध में महान सत्यों, सूक्ष्मतर सत्यों तथा मनुष्य के सूक्ष्म अनुभवों का अनुसन्धान किया था। मज़े की बात तो यह है कि उन महात्माओं ने दूरवीक्षण यन्त्र, अणुवीक्षण यन्त्र तथा प्रयोगशाला आदि का कभी दर्शन तक नहीं किया था। भला वे लोग इन सब वस्तुओं को कैसे जान सके! हृदय के ही द्वारा वे इन सब वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर सके थे। उन लोगों ने अपने हृदय को विशुद्ध किया था। वह मार्ग आज भी हमारे लिए खुला है। हृदय को उन्नत बना कर ही हम सांसारिक दुःख को वास्तविक रूप से कम कर सकेंगे, प्रतिभा इस सम्बन्ध में हमारी ज़रा भी सहायता न कर सकेगी।

मुट्ठी भर आदमियों ने जो इतने बड़े जन-समूह को दासता की बेड़ी में जकड़ रक्खा है, यह प्रतिभा के विकास का, तरह तरह के ज्ञान-विज्ञान के आविष्कार का फल है। इस प्रतिभा के विकास के ही कारण तरह तरह की कृत्रिम आवश्यकताओं की सृष्टि हुई है और हर एक निर्धन व्यक्ति रुपयों के अभाव में भी इनकी पूर्ति के लिए व्यग्र रहता है। तरह तरह के प्रयत्न करके भी जब वह इन आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ नहीं हो पाता तब उसकी अन्तरात्मा में विकलता उत्पन्न होती है। उस विकलता से ही उसे अपने प्राण तक खो बैठने

पड़ते हैं। प्रतिभा के विकास—बौद्धिक उन्नति का यही फल है। इस दुख क्लेश की समस्या प्रतिभा या बुद्धि की सहायता से नहीं सुलझ सकती। इसे तो हृदय ही सुलझाता है। बौद्धिक विकास के लिए जितने भी उद्योग किये गये हैं वे ही यदि मनुष्य को अधिक विशुद्ध, अधिक नम्र और अधिक सहिष्णु बनाने में उपयुक्त किये जाते तो यह संसार आज की अपेक्षा हज़ार गुना सुखमय होता। सदा हृदय को उन्नत बनाओ। हृदय के द्वारा भगवान् बोलते हैं और प्रतिभा या बुद्धि के द्वारा आप स्वयं बोलते हैं।

पुरानी बाइबिल में मूसा से कहा गया है—अपने पैरों से जूते उतार डालो, क्योंकि जहाँ तुम खड़े हो वह पवित्र यानी ईश्वर के बैठने का स्थान है। हमें सदा ही बहुत श्रद्धा के भाव से धर्म के अध्ययन की ओर अग्रसर होना चाहिए। वह व्यक्ति, जो पवित्र हृदय और श्रद्धा का भाव लेकर आता है, उसका हृदय खुल जायगा। उसके लिए द्वार मुक्त रहेगा और वह सत्य का दर्शन करने में समर्थ होगा।

यदि आप केवल प्रतिभा या बुद्धि लेकर ही आवेंगे तो थोड़ा सा बुद्धि-कौशल दिखाने का क्षेत्र, थोड़े से बुद्धि-कौशल-सम्बन्धी सिद्धान्त भर प्राप्त कर सकेंगे, किन्तु सत्य आपके हाथ नहीं लग सकेगा। सत्य में ऐसा आकार है कि जो व्यक्ति उसे देख पाता है, केवल वही सन्देह-रहित होता है। सूर्य्य को प्रदर्शित करने के लिए किसी प्रकार के मशाल की आवश्यकता नहीं पड़ती। सूर्य्य अपनी प्रभा से ही दीप्तिमान है। यदि सत्य के लिए भी कोई प्रमाण आवश्यक होगा तो भला उस प्रमाण को कौन प्रमाणित कर सकेगा? इस विश्व में भला कहाँ ऐसा प्रमाण उपलब्ध हो सकता है जो सत्य को प्रमाणित कर सके! श्रद्धा और प्रेम के भाव से हमें धर्म की ओर, ईश्वर-प्राप्ति की ओर अग्रसर होना चाहिए। हमारा हृदय उत्थित होगा और हमें बतला देगा कि यह

सत्य है और यह असत्य। धर्म का क्षेत्र हमारी ज्ञानेन्द्रियों से परे है, वह हमारी चेतना शक्ति से भी परे है। हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों से ईश्वर को नहीं देख सकते। कोई भी व्यक्ति अपने नेत्रों से ईश्वर का दर्शन नहीं कर सका है। भविष्य में भी इस तरह कोई उसका दर्शन नहीं प्राप्त कर सकेगा। ईश्वर किसी की भी चेतना-शक्ति में नहीं आता। मैं ईश्वर को नहीं जानता। उसे न तो आप जानते हैं और न कोई दूसरा ही व्यक्ति जानता है। ईश्वर कहाँ है? धर्म का क्षेत्र कहाँ है? यह बुद्धि से परे है, चेतना-शक्ति से परे है। बहुतों में से चेतना-शक्ति ही एकमात्र ऐसा क्षेत्र है, जिसमें हम काम करते हैं। स्वयं अपने ही केन्द्रस्थान के अधिक समीप पहुँचने के लिए आप को चेतना-शक्ति के क्षेत्र का अतिक्रमण करना पड़ेगा। यदि आप अपने केन्द्र के समीप पहुँच जायँगे तो बहुत कुछ ईश्वर के भी समीप पहुँच जायँगे। ईश्वर का प्रमाण क्या है? प्रत्यक्ष अर्थात साक्षात् दर्शन। इस दीवार का प्रमाण यही है कि मैं इसे अपने नेत्रों से देख रहा हूँ। उस मार्ग का अनुसरण करके हज़ारों आदमी ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन कर चुके हैं और जो लोग अभिलाषी होंगे वे भविष्य में भी करेंगे। परन्तु इस प्रकार का प्रत्यक्ष इन्द्रियों के द्वारा बिलकुल सम्भव नहीं है। यह इन्द्रियों से परे है, चेतना-शक्ति से परे है। इस विषय की शिक्षा भी हमें इसलिए आवश्यक है कि वह हमें इन्द्रियों से अतीत कर दे, इन्द्रियों को तृप्त करने की लालसा बिलकुल जाती रहे। हर तरह के अपने पूर्व कार्यों तथा दासता के कारण हम लोग अधः पतन की ओर चले जा रहे हैं। पूर्वोक्त ढंग से अभ्यास करते करते हम विशुद्ध हो जायँगे और कर्म का भार हल्का हो जायगा। उस समय दासता की बेड़ी अपने आप कट कर गिर जायगी और हम इन्द्रियों के प्रत्यक्ष के क्षेत्र से, जिसमें कि हम जकड़कर बँधे हुए हैं, ऊपर उठ जायँगे। उसमें हम ऐसी वस्तु को देखेंगे, सुनेंगे या उसका स्पर्श

करेंगे, जिसे कि साधारण मनुष्य, जो आहार, निद्रा और भय के फेर में पड़े रहते हैं, न तो स्पर्श कर सकेंगे, न देख सकेंगे और न सुन सकेंगे। उस समय हम एक विचित्र ही भाषा बोलेंगे। तब संसार हमें न समझ सकेगा, क्योंकि यह तो इन्द्रियों के विषयों के अतिरिक्त और कुछ जानता नहीं। वास्तविक धर्म तो अलौकिक है, वह ज्ञानातीत है। इस विश्व के हर एक प्राणी में इन्द्रियों का अतिक्रमण करने की शक्ति होती है। यहाँ तक कि एक ज़रा सा कीड़ा भी किसी दिन इन्द्रियों का अतिक्रमण करके ईश्वर के समीप पहुँच जायगा। जीव असफल न होगा। विश्व में असफलता के समान और कोई भी वस्तु नहीं है। मनुष्य सैकड़ों बार अपने आप को व्यथित करता है, हज़ारों बार अधः पतन की ओर जाता है परन्तु अन्त में वह अनुभव करेगा कि मैं ईश्वर हूँ। हमें यह मालूम है कि जीवात्मा सीधे उन्नति की ही ओर नहीं अग्रसर होता जाता। हर एक जीवात्मा को भ्रमण करना पड़ता है। मानो वह एक तरह के चक्र में डाल दिया जाता है और उसे उसकी परिक्रमा करनी पड़ती है। वह कभी पतन की ओर अत्यधिक नहीं जा पाता और समय आने पर उन्नति करने लगता है। कोई भी नष्ट न होगा। हम सभी लोगों का एक समान केन्द्र से प्रादुर्भाव हुआ है। क्या उच्चतम और क्या निम्नतम, ईश्वर जितने भी जीवों का प्रादुर्भाव करता है, वे सभी उस परम पिता की गोद में लौट आते हैं। जिससे समस्त प्राणियों का प्रादुर्भाव हुआ है, जिसमें वे रहते हैं और अन्त में लौट कर जिसकी शरण लेंगे, वह ईश्वर है।*

---

* अमेरिका में दिया हुआ एक भाषण।

## आध्यात्मिकता की कुछ व्यावहारिक बातें

आज मैं प्राणायाम तथा अन्य अभ्यासों के सम्बन्ध में, जो कि मनुष्य के आध्यात्मिक उत्कर्ष में सहायक होते हैं, कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न करूँगा। इतने समय तक मैं आप लोगों के समक्ष सिद्धान्तों की ही चर्चा करने में व्यस्त था। इस लिए अब थोड़ी बहुत व्यावहारिक बातें बतला देना अधिक उपयोगी जान पड़ता है। प्राणायाम तथा योग आदि के सम्बन्ध में, आध्यात्मिकता प्राप्त करने के लिए जिनका व्यावहारिक ज्ञान मनुष्य के लिए आवश्यक है, भारत में बहुत सी पुस्तकें लिखी गई हैं। जिस तरह पाश्चात्य देशों के निवासी बहुत सी बातों में व्यावहारिक होते हैं, ठीक वैसे ही इस दिशा में भारतवासी भी क्रियात्मक भाग लेते हैं। पाश्चात्य देशों में पाँच आदमी एक स्थान पर मिल कर बैठ गये और यह तय कर लिया कि हम लोगों की एक "ज्वाइन्ट स्टाक कम्पनी" अर्थात् सहयोग समिति होगी। इस तरह की कम्पनी बनाने में पाश्चात्य देशों में पाँच घंटे में भी नहीं लगते, परन्तु भारत में इस तरह की कंपनी पचास वर्ष में भी नहीं तैयार हो पाती। इस तरह की कंपनी बना कर व्यापार करने का ढंग भारतवासी नहीं जानते। परन्तु यह ध्यान रखने की बात है कि भारत में यदि कोई भी व्यक्ति ईश्वर-प्राप्ति के संबन्ध मे कोई नई क्रिया निकाले तो उसे अनुयायियों की कमी न रहेगी, उसके सिद्धान्त चाहे कितने ही कठोर और ऊट-पटाँग क्यों न हों। उदाहरण के लिए एक पैर से खड़े रहने की ही बात को ले लीजिए। एक संप्रदाय यह सिखलाने के लिए गठित हुआ कि जो मनुष्य निरन्तर बारह वर्ष तक एक पैर से खड़ा रहेगा, उसे मुक्ति मिल जायगी। यह बात सुनते ही सैकड़ों आदमी एक पैर से खड़े होने के लिए तैयार हो गये। सारा क्लेश वे शान्तिपूर्वक सहने लगे। यहाँ कितने ही ऐसे मनुष्य हैं, जो धर्म का तत्त्व-ईश्वरीय ज्ञान-प्राप्त

करने के लिए वर्षों अपने बाहुओं को ऊपरही उठाये रह सकते हैं। भारत वर्ष में इस तरह के सैकड़ों आदमियों को मैंने देखा है। ध्यान रहे कि इस तरह के लोग सदा अज्ञानी और निरक्षर ही नहीं हुआ करते। वे इतने सुविज्ञ होते हैं कि उनकी प्रखर प्रतिभा तथा गम्भीर विद्वत्ता के सामने आपको दंग रह जाना पड़ेगा।

दूसरों की योग्यता का निर्णय करते समय हम सदा ही भूलकर बैठते हैं। हम सदा ही यह सोचने के लिए इच्छुक रहते हैं कि हम अपने मस्तिष्क में जिस छोटे से विश्व की कल्पना किया करते हैं, वह उससे बड़ा नहीं है। हम जिस नीति का अवलम्बन करते हैं, हममें जो चरित्रबल एवं कर्तव्य-बुद्धि होती है और हम जिस वस्तु को उपयोगी या अनुपयोगी समझते हैं, हमारी दृष्टि में वही सर्वमान्य है। यही कारण है कि कोई एक वस्तु को निन्द्य समझता है तो दूसरा उसी पर मुग्ध हो जाता है। जो कार्य्य करके एक व्यक्ति किसी समाज में गौरव का पात्र समझा जाता है, वही कार्य्य करते देखकर दूसरे समाज के लोग घृणा के मारे उसकी ओर से मुँह फेर लेते हैं। इन्हीं सब बातों को देख-सुनकर हमें ईसा की अमूल्य उक्ति स्मरण हो आती है—"दूसरे के दोष मत खोजो, जिससे कि दूसरे लोग तुम्हारे दोष न ढूंढ़ें"। जितना ही हम सीखते हैं, उतना ही यह अनुभव करते जाते हैं कि हम कितने मूर्ख हैं। मनुष्य का मस्तिष्क—विचार शक्ति—कितने विभिन्न प्रकार का है, कितने विभिन्न दृष्टिकोण से वह हर विषय पर विचार करता है। जब मैं छोटा सा बालक था, तब देशवासियों की तपश्चर्य्या पर हँसा करता था। परन्तु जैसे जैसे मेरी अवस्था बढ़ती जा रही है, वैसे ही वैसे मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि मुझे दूसरों के सम्बन्ध में किसी प्रकार का निर्णय करने—दूसरे को सदोष ठहराने का कोई अधिकार नहीं है। कभी कभी तो मेरे हृदय में इस बात की इच्छा उत्पन्न होती है, कि इन

योगियों के से अद्भुत काम करने की, उनके समान कष्ट सहन करने की, आंशिक शक्ति भी मुझमें आजाय, भले ही उनके सारे क्रिया-कलाप असङ्गतिमय हों। प्रायः मैं सोचता हूँ कि इन क्रिया-कलापों—इन कठोर तपस्याओं के विरुद्ध इस कारण उनकी आलोचना नहीं करता कि यह शरीर के प्रति अत्याचार करना है, उसे किसी प्रकार का क्लेश देना मुझे पसन्द नहीं है, यह मैं केवल भीरुता के कारण किया करता हूँ, क्योंकि उस तरह की कठोर तपश्चर्या, उस तरह के अद्भुत क्रिया-कलाप करने में मैं समर्थ नहीं हूँ, उन्हें करने का मुझे साहस ही नहीं होता।

ध्यान रखने की बात है कि शारीरिक बल, कर्तृत्वशक्ति और धैर्य, ये ऐसी वस्तु हैं, जो कि हर एक व्यक्ति में बिलकुल भिन्न और पृथक् पृथक् मात्रा में होती हैं। किसी व्यक्ति के संबन्ध में अपना निर्णय प्रकट करते हुए हम प्रायः कहा करते हैं—यह बड़ा ही धीर, बड़ा ही वीर या बड़ा ही साहसी व्यक्ति है। परन्तु यह हमें सदा स्मरण रखना चाहिए कि धैर्य, वीरता तथा अन्य कोई भी विशेष गुण मनुष्य का साथ सदा ही सभी परिस्थितियों में नहीं देता। मनुष्य का जो विशेष गुण किसी परिस्थिति में उसे गौरवान्वित करता है, वही गुण कोई और तरह की परिस्थिति आने पर बिलकुल ही हवा हो जाता है। मान लीजिए कि कोई व्यक्ति बड़ा ही साहसी और वीर है। वह दौड़कर तोप के मोहड़े पर खड़ा हो जाता है, अपने प्राणों की ओर उसका ज़रा भी ध्यान नहीं रहता। परन्तु उसी व्यक्ति के शरीर में जब किसी तरह का घाव हो जाता है, और चिकित्सा के लिए चीड़-फाड़ की आवश्यकता पड़ती है, तब डाक्टर का नश्तर तक देखकर उसका हृदय काँप उठता है। इसके विरुद्ध जिस व्यक्ति में बन्दूक तक का सामना करने का साहस नहीं होता, वह आवश्यकता पड़ने पर गहरा से गहरा घाव चिरवा

लेता है, और वह ज़रा सा आह तक नहीं करता । इस लिए यह आवश्यक है कि दूसरों के गुण-दोष की विवेचना करते समय आपको सदा धैर्य्य और महानता की एक परिभाषा निर्दिष्ट कर देनी चाहिये। जिस व्यक्ति के संबन्ध में हम यह प्रकट कर रहे हैं कि यह अच्छा आदमी नहीं है, संभव है कि किसी दृष्टि से उसमें बहुत ही-अद्भुत गुण हों और उस ओर हमारा ध्यान न गया हो या वह हमारे दृष्टिकोण की बात न हो।

एक दूसरा उदाहरण लीजिए। आप प्रायः देखते होंगे कि जब कभी पुरुषों और स्त्रियों के काम-काज के संबन्ध में विचार किया जाता है, तब सदा एक ही प्रकार की भूल की जाती है। लोग पुरुष को स्त्री जाति से बहुत आगे स्थान देते हैं। बात यह है कि आवश्यकता पड़ने पर पुरुष शत्रु का सामना कर सकता है। वह कठिन से कठिन शारीरिक परिश्रम कर सकता है। परन्तु स्त्रियाँ कोमलाङ्गी होती हैं। शत्रु के सामने खड़ी होकर लड़ना उनका काम नहीं है। इस गुण के अभाव से ही लोग उन्हें पुरुषों से हीन समझते हैं। परन्तु यह उचित नहीं है। स्त्रियाँ भी उतनी ही धीर और पराक्रमशालिनी होती हैं जितने कि पुरुष होते हैं। अपने क्षेत्र में जैसे पुरुष श्रेष्ठ होते हैं वैसे ही स्त्रियाँ भी होती हैं। बच्चों का पालन-पोषण करने में स्त्रियाँ जितना धैर्य्य, सहिष्णुता तथा प्रेम प्रदर्शित करती हैं, क्या वह पुरुषों के लिए भी कभी संभव है? जहाँ पुरुष ने कार्य्य करने की क्षमता में उन्नति की है, वहाँ स्त्री ने सहिष्णुता अधिक प्राप्त की है। जहाँ स्त्री पुरुष के समान कार्य्य नहीं कर सकती वहाँ पुरुष स्त्री के समान सहन नहीं कर सकता। विश्व-विधाता की यह सारी सृष्टि बहुत ही ठीक तौर से काँटे पर नाप-जोख कर रची गई है। अभी हममें ज्ञान नहीं है। परन्तु एक दिन जब आँख खुलेगी, तब हमें यह ज्ञात होगा कि एक ज़रा से कीड़े में भी वह विशेषता है, जोकि मनुष्यता के मुक़ाबले

में खड़ी हो सकती है। खोजने में एक पापी आदमी में भी वह सद्गुण मिल सकेगा, जिसका हममें सर्वथा अभाव है। यह बात हम अपने जीवन में प्रतिदिन देखा करते हैं। एक असभ्य जंगली को देखिए। उसका स्वास्थ्य, उसके शरीर का स्वाभाविक गठन, देखकर हमें ईर्ष्या होती है। क्या ही अच्छा होता, यदि भगवान् वैसा ही गठीला और सबल शरीर हमें भी देते। वह बड़े आराम से खाता-पीता है। शायद उसे जीवन-यात्रा के लिए हमारी जितनी चिन्ता भी नहीं करनी पड़ती। वह काफ़ी स्वस्थ भी होता है। इधर हम सदा ही एक न एक चिन्ता में, किसी न किसी व्याधि के चंगुल में फँसे रहते हैं। हम कितने सुखी होते यदि वह अपना सबल और तन्दुरुस्त शरीर हमारे उर्वर मस्तिष्क से बदल लेता। यह सारा विश्व केवल उर्मि और गर्त्त है। बिना गर्त्त के, जल-शून्य स्थान के, उर्मि उठ ही नहीं सकती, उर्मि के द्वारा जो जल स्थानान्तरित होगा उसके लिए कहीं स्थान भी तो चाहिए? संसार में सर्वत्र सामञ्जस्य है। आप के पास यदि एक चीज़ अधिक महत्त्व की है तो आपका पड़ोसी वैसी ही किसी दूसरी महत्त्वपूर्ण वस्तु का अधिकारी है। जब आप पुरुष और स्त्री की महत्ता के संबन्ध में विचार करते हैं, तो उनमें से हर एक की मर्य्यादा का ध्यान रखकर अपना मत स्थिर कीजिए। हर एक व्यक्ति अपनी मर्य्यादा के ही अन्तर्गत अपनी महत्ता का प्रस्तार कर सकता है। कोई भी दूसरे को पापी कहने का अधिकारी नहीं है। इस तरह के कितने ही अन्धविश्वास बहुत प्राचीन काल से प्रचलित हैं कि अमुक घटना होने से संसार नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। परन्तु उन घटनाओं के होते रहने पर भी संसार ज्यों का त्यों बना ही है।

इस देश के ही सम्बन्ध में ले लीजिए। पहले यहाँ के लोगों का यह विश्वास था कि यदि निग्रो लोग स्वतन्त्र कर दिए गये तो

देश नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। परन्तु क्या यह बात सत्य उतरी ? यह बात भी कही जाती है कि यदि जन-साधारण में शिक्षा का प्रचार किया गया तो संसार का सत्यानाश हो जायगा। परन्तु इसका परिणाम विपरीत ही हुआ। कई वर्ष हुए एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी जिसमें भावी दुर्दशा की सूचना दी गई थी। लेखक ने लिखा था कि मजदूरों का वेतन बढ़ता जा रहा है और इङ्गलैंड के व्यापार का ह्रास होता जा रहा है। इस बात की भी शिकायत की गई थी कि इंगलैंड के मजदूर अपनी मजदूरी सीमा से कहीं अधिक बढ़ाने की कोशिश कर रहे हैं, परन्तु जर्मनी के मजदूर कम मजदूरी पर काम कर रहे हैं। इस बात की सत्यता की जाँच करने के लिए जर्मनी में एक कमीशन भेजा गया। उसने यह रिपोर्ट प्रकाशित की कि जर्मनी के मजदूर अधिक मजदूरी पाते हैं। इसका कारण क्या था? बात यह थी कि वहाँ की जनता शिक्षित थी। जब यह बात है तब भला जन-साधारण के शिक्षित होने पर संसार विनाश की ओर कैसे अग्रसर हो सकेगा? संसार भर में पुरानी अन्ध-परम्परायें विशेष रूप से भारत में ही परिलक्षित होती हैं। वहाँ के लोग सारी बातों को जन-साधारण से छिपा कर रखना चाहते हैं। उनका विश्वास है कि जिस तरह के प्रयोग मैं कर रहा हूँ, वे मेरे लिए ज़रा भी हानिकर नहीं हैं, किन्तु उनके कारण जन-साधारण की बड़ी हानि होगी।

अब मैं व्यावहारिक विषय पर फिर लौटा आ रहा हूँ। भारत में मनोविज्ञान का व्यावहारिक प्रयोग बहुत प्राचीनकाल से होता चला आ रहा है। इसका प्रचार ईसा से चौदह सौ वर्ष पहले हो चुका था। उस युग में पतञ्जलि नामक एक बहुत बड़े तत्त्वदर्शी उत्पन्न हुए थे। मनोविज्ञान के सम्बन्ध में जितने भी प्रमाण उपलब्ध करना सम्भव था उन सभी का उन्होंने संग्रह किया और इस सम्बन्ध में जो कुछ खोज हुई थी, उससे भी लाभ उठाया। पूर्ववर्ती महर्षियों ने

जो कुछ अनुभव संग्रह किये थे, उनसे इन्होंने सहायता ली। याद रहे कि यह संसार बहुत प्राचीन है। इसकी सृष्टि हुए केवल दो ही तीन हज़ार वर्ष नहीं व्यतीत हुए। पाश्चात्य देशों में इस बात की शिक्षा दी जाती है कि समाज का आरम्भ नई बाइबिल के साथ केवल अठारह सौ वर्ष पहले हुआ है। इसके पहले समाज नहीं था। सम्भव है कि पाश्चात्य समाज के सम्बन्ध में यह बात सत्य हो किन्तु समस्त संसार के संबन्ध में यह नहीं सत्य हो सकती। जिन दिनों मैं लन्दन में व्याख्यान दे रहा था, मेरे एक बहुत ही मेधावी और प्रतिभा-सम्पन्न मित्र प्रायः मेरे पास आकर वाद-विवाद किया करते थे। अन्त में अपने सारे अस्त्रों का प्रयोग कर चुकने के बाद एक दिन वे एकाएक बोल उठे—तो आपके ऋषि इंग्लैंड आकर हम लोगों को क्यों नहीं शिक्षा दे गये? इसके उत्तर में मैंने कहा—क्योंकि उस समय इंग्लैंड था ही कहाँ। क्या वे यहाँ आकर निर्जन वनों को धर्म का उपदेश करते?

एक व्यक्ति ने मुझसे कहा—पचास वर्ष पहले यदि आप धर्म-प्रचार के उद्देश्य से इस देश में आये होते तो या तो फाँसी पर चढ़ा दिये जाते या जीते ही जलवा दिये जाते। यदि इससे बच भी जाते तो लोग पत्थर मार मार कर आपको गाँव से ज़रूर खदेड़ देते। इस तरह किसी भी गाँव में आपको मुँह खोलने का अवसर न मिलता।

अस्तु, यह मान लेना ज़रा भी अनुचित न होगा कि ईसा से १४०० वर्ष से पहले भी समाज वर्तमान था। अभी यह निर्णीत नहीं हो सका कि समाज निम्न कोटि से चलकर उच्च कोटि की ओर सदा अग्रसर हुआ करता है। उक्त सिद्धान्त के प्रस्तावित करने पर जितने भी तर्क और प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं, वे ही इस बात को भी सिद्ध करने में उपयुक्त किये जा सकते हैं कि असभ्य

जंगली पुरुष केवल सभ्य पुरुष का विगड़ा हुआ रूप है। सभ्य पुरुष ही विगड़ते-विगड़ते जंगली के रूप में परिवर्तित हो गया है। उदाहरण के लिये चीन देश के निवासियों को ले लीजिए। वहाँ यदि यह बात कहिए कि सभ्यता विलकुल असभ्य अवस्था से विकसित हुई है, तो इस बात की सत्यता कोई भी न स्वीकार करेगा, क्योंकि चीन वालों का अनुभव इसके विपरीत ही है। परन्तु अमेरिका की सभ्यता के सम्बन्ध में बातचीत करते समय इस बात का जो आशय समझते हैं, उसका कारण अमेरिका की जाति का स्थायित्व और उसकी अभिवृद्धि है।

यह बात तो प्रायः सर्वमान्य हो चुकी है, कि हिन्दूजाति की सभ्यता अतीतकाल में उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुँच चुकी थी, यद्यपि इसमें सात सौ वर्ष से उत्तरोत्तर ह्रास होता जा रहा है। इस बात के प्रतिकूल कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

संसार में एक भी ऐसी सभ्यता नहीं है, जिसका विकाश अपने आप हुआ हो। कोई भी जाति तब तक सभ्य नहीं हो पाई जब तक कि कोई दूसरी सभ्य जाति आकर उसमें न मिली हो। एक सभ्य-जाति अपने देश को छोड़ कर किसी दूसरे देश में जाती है और वहाँ के निवासियों में हिल-मिल कर उन पर अपना प्रभाव डालती है। इस प्रकार वहाँ की मूल जाति के विचारों में उन्नति होने पर 'सभ्यता' का उदय होता है। आगे चलकर जैसे दोनों जातियाँ परस्पर एक दूसरे के विचारों को अपनाती जाती हैं और जन-साधारण की रहन-सहन तथा शिक्षा-दीक्षा में उन्नति होती जाती है, वैसे ही वैसे सभ्यता का विकाश होता जाता है।

आइए, अब ज़रा वर्त्तमान विज्ञान के सिद्धान्तों के अनुसार कुछ विचार करें। क्योंकि तभी हम व्यावहारिक उद्देश्यों तक पहुँच

सकेंगे। परन्तु आपको यह स्मरण रखना चाहिए कि धार्मिक अन्ध-विश्वासों के ही समान वैज्ञानिक विषयों में भी बहुत से अन्ध-विश्वास प्रचलित हैं। धार्मिक जगत में कुछ पुरोहित होते हैं और वे ही धर्म-सम्बन्धी सारे कृत्यों पर अपना विशेष अधिकार समझा करते हैं। भौतिक तथा वैज्ञानिक नियमों के भी पुरोहित होते हैं। हम जैसे ही डार्विन, हक्सले आदि किसी-विशिष्ट वैज्ञानिक का नाम सुनते हैं वैसे ही अन्ध भाव से उसकी बातों को मान्य समझने लगते हैं। आजकल की यही प्रचलित प्रथा है। वैज्ञानिक जगत में भी सैकड़ा पीछे निन्नानवे बातें ऐसी प्रचलित हैं, जो कोरे सिद्धान्तों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।

भूत प्रेत आदि के सम्बन्ध में कितनी ही कथायें प्रचलित हैं। कहीं सुनने में आता है कि अमुक प्रेत के इतने सिर थे, अमुक प्रेत के इतने हाथ थे, और अमुक प्रेत अमुक प्रकार के अद्भुत काम करने की क्षमता रखता था। इस तरह के कितने ही अन्ध-विश्वास बहुत प्राचीनकाल से प्रचलित हैं। वैज्ञानिक विषयों में भी इसी तरह की कितनी ही अन्ध-विश्वास-युक्त बातें प्रचलित हैं। इन भूत-प्रेत की कथाओं के ही समान व्यावहारिक जगत में इनका भी कोई अस्तित्व नहीं मिलता। केवल इतना ही है कि ये भूत-प्रेत की कथायें मनुष्य से सम्बन्ध रखती हैं और वैज्ञानिक बातें विशेष कर जड़ पदार्थों से। वास्तविक विज्ञान हमें सावधान होना सिखलाता है। जिस तरह हमें पुरोहितों से सावधान होना चाहिए वैसे ही वैज्ञानिक से भी सावधान होने की आवश्यकता है। आप अपना अध्ययन अविश्वास से ही प्रारंभ कीजिए। हर एक बात का विश्लेषण कीजिए, हर एक विषय की परीक्षा कीजिए और पूर्ण प्रमाण प्राप्त हो जाने के बाद विश्वास कीजिए। आधुनिक विज्ञान के कुछ बहुत से प्रचलित सिद्धान्त भी ऐसे हैं, जो अभी तक प्रमाणित नहीं हो सके। यहाँ

तक कि गणित जैसे विज्ञान में भी अधिकांश सिद्धान्त केवल प्रमाणहीन अनुमानों के ही आधार पर उपयुक्त किये जाते हैं। जब कभी अधिक गम्भीर ज्ञान का आविर्भाव होगा तब ये सारे सिद्धान्त बहिष्कृत कर दिये जायँगे।

ईसा से चौदह सौ वर्ष पूर्व एक ऋषि ने कुछ वैज्ञानिक विषयों को व्यवस्थित करके उनका विश्लेषण करने तथा जनसाधारण में प्रचलित करने का प्रयत्न किया था। कितने ही अन्य महानुभावों ने भी उन ऋषि-पुङ्गव के सिद्धान्तों का अनुगमन किया और उनके अनुसंधान में भाग लेकर निर्धारित विषयों का बहुत ही गम्भीर भाव से अध्ययन किया। संसार की समग्र प्राचीन जातियों में से केवल हिन्दू जाति ने ही इस शास्त्र का समुचित रूप से अध्ययन किया है। अब मैं इस विषय की शिक्षा आप लोगों को दे रहा हूँ, किन्तु आप में से कितने ऐसे जिज्ञासु हैं, जो कि इस का अभ्यास करेंगे? कितने दिन, कितने महीने इसका स्मरण रख सकेंगे? इस सम्बन्ध में आप लोग ज़रा भी व्यावहारिक नहीं हैं। परन्तु भारतीय जिज्ञासु युग-युगान्तर तक इसका अभ्यास जारी रक्खेंगे। आपको जान कर आश्चर्य्य होगा कि इन जिज्ञासुओं के पास कोई गिरजा नहीं है, सर्व-साधारण के लिए सम्मिलित भाव से उपासना करने की कोई पद्धति नहीं है, परन्तु फिर भी वे सब प्रतिदिन प्राणायाम का अभ्यास करते हैं, मन को एकाग्र करने का प्रयास करते हैं। यही उनके धर्मानुराग का, उपासना का मुख्य भाग है। प्राणायाम-साधन और मन की एकाग्रता ही उनकी साधना के मुख्य विषय हैं। इन विषयों का अनुशीलन करना प्रत्येक हिन्दू का कर्तव्य है। हर एक व्यक्ति के ध्यान के मन्त्र, उपासना की क्रिया विशेष प्रकार की होती है। कौन किस मन्त्र का जप करके अपने मन को एकाग्र करने की, ईश्वर में अपने को विलीन करने की, चेष्टा करता है, इससे किसी का कोई मतलब

नहीं। यहाँ तक कि सहधर्मिणी तक को भी उस मन्त्र के जानने की आवश्यकता नहीं रहती। पुत्र किस मन्त्र का ध्यान करता है, इससे पिता का कोई मतलब नहीं। परन्तु हर एक के लिए किसी न किसी क्रिया से, किसी न किसी मन्त्र से ईश्वर-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना आवश्यक है। इन विषयों में कोई गुप्त बात भी नहीं है। गंगा जी के तट पर आपको प्रतिदिन हजारों आदमी बैठे हुए मिलेंगे। वे सब वहाँ पर प्राणायाम और आँखें मूँद कर चित्त को एकाग्र करते रहते हैं। इस संबन्ध की कुछ ऐसी भी क्रियायें हैं, जो सर्व-साधारण में प्रचलित नहीं हैं। इसके दो कारण हो सकते हैं। उनमें से एक तो यही है कि गुरु लोग उन महत्त्वपूर्ण क्रियाओं के करने के अधिकारी सर्व-साधारण को नहीं समझते। उनकी इस धारणा में तथ्य की मात्रा भी हो सकती है। परन्तु यह बात वे लोग दर्प के कारण कहा करते हैं। दूसरा कारण इन क्रियाओं के अभ्यास में कठिन तपश्चर्या है। उदाहरणार्थ इस देश में कोई भी जन-साधारण के बीच में प्राणायाम का अभ्यास करना न पसंद करेगा क्योंकि समाज में इसका चलन नहीं है। क्रिया की साधना करके वह सन्देहमय समझा जायगा। क्योंकि यहाँ की यह प्रचलित प्रथा नहीं है। इसके विरुद्ध भारत में यदि कोई इस प्रकार से प्रार्थना करे—हे मेरे पिता, जो तू स्वर्ग में है मुझे आज की रोटी दे, मेरा भोजन चला। हिंदुओं के विचार से इससे बढ़ कर मूर्खता-पूर्ण और कोई भी बात नहीं हो सकती। इस तरह की प्रार्थना करने वाले का उपहास किये बिना लोग नहीं रह सकते। क्योंकि हिन्दू तो ईश्वर को अपने हृदय में ही देखते हैं।

योगियों के मतानुसार मानव-शरीर में तीन मुख्य नाड़ियाँ होती हैं। एक का नाम इड़ा है, दूसरी का पिङ्गला, और तीसरी का, जो बीच में है, सुषुम्ना। ये तीनों ही मेरु-दंड के बीच में होती हैं। इड़ा

और पिङ्गला क्रमशः दाहिनी और बाईं ओर की नाड़ियाँ का जाल होती हैं, किन्तु सुषुम्ना, जो इन दोनों के बीच में होती है, खोखली होती है, उसमें दूसरी नाड़ियाँ नहीं मिली होतीं। यह नाड़ी छिपी होती है और साधारण मनुष्य के लिए इसका कोई उपयोग नहीं होता, क्योंकि मनुष्य इडा और पिङ्गला के ही द्वारा समस्त कार्य्यों का सम्पादन करता है। इन दोनों नाड़ियों के ही द्वारा तरङ्गें शरीर के निम्न भाग से उच्च भाग को तथा उच्च भाग से निम्न भाग को जाती हैं और अन्य नाड़ियों के द्वारा, जो शरीर के समस्त भागों में फैली हैं, भिन्न भिन्न अङ्गों में मन का आदेश पहुँचाया करती हैं।

प्राणायाम करने का सब से बढ़ कर उद्देश्य है इन इडा और पिंगला नामक नाड़ियों को व्यवस्थित करके उन्हें उचित मर्य्यादा में नियंत्रित रखना। परन्तु वास्तव में स्वतन्त्र रूप से प्राणायाम कोई भी चीज़ नहीं हैं। प्राणायाम के द्वारा अधिक मात्रा में शुद्ध वायु फेफड़ों में पहुँचती है जिससे रक्त शुद्ध होता है। इसके अतिरिक्त प्राणायाम से और कोई विशेष लाभ नहीं है। प्राणायाम करके अपनी सांसों के द्वारा जो वायु हम अपने फेफड़ों में ले जाकर उसे समान मात्रा में परिणत करते और रक्त-शुद्धि के लिए सारे शरीर में पहुँचाते हैं, उसमें कोई रहस्य की बात नहीं है, यह क्रिया श्वास प्रश्वास की केवल एक प्रकार की गति है। इस गति को हटाकर हम एक ऐसी गति में ला सकते हैं, जो प्राणवायु कहलाती है और सर्वत्र हर प्रकार का गतियाँ इस प्राण के भिन्न भिन्न प्रकार के प्रकाशमात्र हैं। यह प्राण विद्युत की एक शक्ति है, इसमें चुंबक का सा आकर्षण होता है। इस प्राण को ही मस्तिष्क विचार के रूप में बाहर निकालता है। संसार की प्रत्येक वस्तु प्राण है। प्राण ही सूर्य्य, चन्द्रमा तथा तारागण को सञ्चालित करता है।

हम कहा करते हैं कि विश्व में जो कुछ है, प्राण के स्पन्दन से ही उसका समुद्भव हुआ है। स्पन्दन का उच्चतम परिणाम विचार है। उससे भी यदि कोई अधिक उच्च और महत्त्व की वस्तु सम्भव है, तो वह हमारी कल्पना से परे है। ये इडा और पिंगला नामक नाड़ियाँ इस प्राण के द्वारा ही कार्य्य किया करती हैं। यह प्राण ही है, जिसके द्वारा शरीर के भिन्न भिन्न भाग सञ्चालित होते हैं, यही तरह तरह की शक्तियों के रूप में परिणत हुआ करता है। इस प्राचीन विश्वास का परित्याग कर दीजिए कि ईश्वर कोई वस्तु है, जो कि प्रभाव उत्पन्न करता है और सिंहासन पर बैठ कर लोगों के शुभाशुभ कर्मों पर विचार करता एवं उचित फल दिया करता है। कार्य्य करते करते हम अवसन्न इस लिए हो जाया करते हैं कि प्राण का अधिक मात्रा में उपयोग कर डालते हैं।

प्राणायाम श्वास-प्रश्वास को व्यवस्थित करता है और प्राण-वायु की क्रियाशीलता को एक नियमित मात्रा में लाता है। प्राण-वायु जब नियमित मात्रा में काम करती है, तब शरीर की सभी इन्द्रियाँ अपना अपना कार्य्य नियमानुसार ही करती रहती हैं। योगी को जब अपने शरीर पर पूर्ण अधिकार हो जाता है, तब शरीर के किसी अङ्ग में कोई व्याधि हो जाने पर वह समझ लेता है कि उस स्थान पर प्राणवायु नियमित मात्रा में अपना प्रभाव नहीं डालती। योगी तुरन्त ही प्राण-वायु को सञ्चालित करके वहाँ पहुँचाता है और उसे वहाँ तब तक स्थिर रखता है, जब तक कि वह रोग-ग्रस्त स्थान सर्वथा आरोग्य नहीं हो जाता।

जिस तरह आप अपने शरीर के प्राण-वायु को अपने अधिकार में रख सकते हैं, ठीक उसी तरह, आपने यदि यथेष्ट शक्ति उपलब्ध कर ली है, तो यहाँ अमरीका में बैठे-बैठे भारत के किसी व्यक्ति की प्राण-वायु

को अपनी इच्छानुसार सञ्चालित कर सकते हैं। यह प्राण-वायु सर्वत्र एक ही है। इसमें खण्ड नहीं होते। एकता ही इसका नियम है। क्या शारीरिक, क्या मानसिक और क्या आध्यात्मिक सभी दृष्टियों से सभी देहधारियों के शरीर की प्राण-वायु एक ही है। जीवन केवल एक स्पन्दन है। जो शक्ति आकाश रूपी सागर को स्पन्दित करती है, वही आप में भी स्पन्दन उत्पन्न करती है। जिस तरह किसी झील में बर्फ के बहुत से टुकड़े जमे रहते हैं और हर एक की छोटाई-बड़ाई और मोटाई एक दूसरे से पृथक् होती है या किसी भाप के समुद्र में भिन्न-भिन्न आकार के घनत्व पाये जाते हैं, ठीक वैसे ही यह विश्व भी द्रव्यों का एक सागर है। विश्व आकाश का एक सागर है, जिसमें सूर्य, चन्द्रमा, तारे तथा हम सभी वर्त्तमान हैं। गुरुत्व में, आकार-प्रकार में, हम सभी एक दूसरे से भिन्न हैं, किन्तु इस आकाश रूपी अनन्त सागर में हम सब के भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार में वर्त्तमान रहने के कारण अखण्डता नहीं नष्ट होती। वह ज्यों का त्यों पूर्णभाव से समस्त विश्व में व्याप्त रहता है।

अब, जब हम अध्यात्म-विद्या का अध्ययन करते हैं, तब हमें ज्ञात होता है कि यह संसार एक ही है। यह आध्यात्मिक, भौतिक, मानसिक रूपों में भिन्न-भिन्न नहीं है। शक्तियों का भी संसार पृथक् नहीं है। यह समस्त एक ही है, भिन्न-भिन्न रूपों में परिलक्षित होता है। जब तक हम अपने आप पर एक शरीर के रूप में विचार करते हैं, तब यह भूल जाते हैं कि मैं मन भी हूँ और जब मन के रूप में विचार करते हैं, तब शरीर को भूल जाते हैं। तुम, यह एक ही वस्तु हो, चाहे इसे—"तुम"को—द्रव्य के रूप में देखो, या शरीर के रूप में। मन या आत्मा के रूप में भी इस एक ही "तुम" को देख सकते हो। जन्म, जीवन और मृत्यु आदि सब प्राचीन कुसंस्कारों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। न तो कभी किसी ने जन्म ग्रहण किया

है और न कोई कभी मरेगा। जीवात्मा अपना स्थान भर परिवर्तित किया करता है। इसके अतिरिक्त जन्म-मरण और कोई वस्तु नहीं है।

यहाँ पश्चिम में, मुझे यह देखकर आश्चर्य्य होता है, कि लोग मृत्यु से कितना भयभीत रहा करते हैं, वे सदा ही इस तुच्छ जीवन की रक्षा के ही फेर में पड़े रहते हैं। 'मृत्यु के बाद हमें जीवन-दान दो, हमें जीवन-दान दो!' यदि कोई व्यक्ति उनसे कहे कि बाद को, मृत्यु के बाद तुम्हें जीवन मिलेगा, तो वे कितना सुखी होते हैं। इस तरह के विषय में हम कैसे सन्देह कर सकते हैं। हम यह कल्पना कैसे कर सकते हैं कि हम मृत हैं! अपने आप को एक मृतक के रूप में अनुभव करने की चेष्टा कीजिए। उस अवस्था में आप देखेंगे कि मैं स्वयं अपने ही मृत शरीर को देखने के लिए उपस्थित हूँ। जीवन इतना अधिक नित्य है कि उसे एक क्षण के लिए भी आप नहीं विस्मृत कर सकते। आप इस विषय में भी सन्देह कर सकते हैं, कि मैं जीवित हूँ। 'मैं हूँ', चेतनता का यह पहला व्यापार है। उन वस्तुओं के स्वरूप की, जिनका कभी अस्तित्व ही नहीं था, कोई कैसे कल्पना कर सकता है? हर एक सत्यों का यही सब से बढ़कर स्वयं-सिद्ध प्रमाण है। इससे मनुष्य की अमरता का भाव स्वाभाविक ही है। जो वस्तु कल्पना से परे है, उसके सम्बन्ध में भला कोई तर्क-वितर्क कैसे कर सकता है। जो विषय स्वतः प्रमाणित है उसके अनुकूल या प्रतिकूल किसी को तर्क-वितर्क करने की आवश्यकता ही क्या है?

इस लिए यह सारा विश्व एक मात्र वस्तु है, चाहे किसी भी विषय की दृष्टि से इस पर विचार किया जाय। यह विश्व प्राण और आकाश, शक्ति और वस्तु की एकता है। ध्यान रखने की बात है कि अन्य मूल सिद्धान्तों के ही समान यह भी अपने पक्ष का ही विरोध करने वाला विषय है। शक्ति क्या है, जो द्रव्यों को सञ्चालित करती है। द्रव्य

क्या हैं, जो कभी शक्ति के द्वारा सञ्चालित होते हैं। यह बालकों के खेलने की वह ढेंकी है, जो कभी ऊपर उठती है और फिर नीचे की ओर बैठ जाती है। यद्यपि हम अपने ज्ञान विज्ञान पर अभिमान करते हैं, परन्तु फिर भी हमारे कितने ही तर्कों के आधार बहुत ही कौतूहल-जनक हैं। यह तो मस्तक के अभाव में भी मस्तक की पीड़ा है। द्रव्यों की यह अवस्था माया के नाम से अभिहित है। इसका न तो अस्तित्व है और न अभाव। इसे आप सत्ता नहीं कह सकते, क्योंकि सत्ता उसी की रह सकती है, जो देश और काल से परे होता है, जो स्वयं अवस्थित रहता है। फिर भी यह संसार हमारे सत्ताभाव की बहुत कुछ पूर्ति करता है, इस लिए इसमें एक वाह्य सत्ताभाव है।

वास्तविक सत्ता सर्वत्र और हर एक वस्तु में वर्तमान रहती है। और वह वास्तविकता देश, काल और कार्य्य कारण भाव के अन्तराल से पकड़ में आती है। इस सृष्टि में वास्तविक मनुष्य—सर्वव्यापी—वर्तमान है, जो अनादि और अनन्त है, जो सदा मुक्त है। वह देश-काल और कार्य्य-कारण भाव के जाल से पकड़ में आगया। उस सर्व-व्यापी, अनादि पुरुष, के ही अधिकार में संसार की सभी वस्तुएं हैं। सब वस्तुओं की वास्तविकता वही सर्वव्यापी है। यह मायावाद नहीं है, यह वह विषय नहीं है जो संसार को अस्तित्वहीन ठहराता है। इसमें आपेक्षिक सत्ता है, जो इसकी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। परन्तु इसमें स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यह स्वयं प्रकाशमान ईश्वर की वास्तविकता के कारण देश, काल और कार्य्य-कारण भाव से परे अस्तित्वमय रहता है।

अन्यान्य विषयों की चर्चा बहुत कुछ हो चुकी। अब हमें अपने मुख्य विषय पर ही आना चाहिए।

हमारे शरीर में जितने व्यापार अपने आप होते रहते हैं और जितने

हम जान-बूझकर करते हैं, वे सब प्राण-वायु के ही कार्य्य हैं और ये नाड़ियों के द्वारा सम्पादित होते हैं। इसलिए जितने व्यापार अपनी इच्छा से ही हमारी अचेतन अवस्था में होते हैं, उन पर यदि हमारा अधिकार हो जाय तो क्या ही अच्छा हो।

पहले कभी मैं ईश्वर और मनुष्य की परिभाषा बतला चुका हूँ। मनुष्य एक अपरिसीम चक्र है, जिसकी परिधि तो कहीं नहीं है किन्तु केन्द्र एक स्थान पर अवस्थित है। ईश्वर एक अपरिसीम चक्र है, जिसकी परिधि कहीं नहीं है, किन्तु केन्द्र सर्वत्र वर्तमान है। वह हर-एक हाथों से काम करता है, हर एक नेत्रों से देखता है, हर एक पैरों से चलता है और हर एक व्यक्ति के शरीर में साँस लेता है। हर एक के जीवन में वह जीवित रहता है, हर एक के मुँह से बोलता है और हर एक के मस्तिष्क से सोचता है। मनुष्य यदि आत्मप्रतीति के केन्द्र को अपरिसीम मात्रा में परिवर्द्धित कर सके तो वह ईश्वर के समान हो सकता है, और समस्त विश्व पर अधिकार प्राप्त कर सकता है। यह चैतन्य ही ऐसा विषय है, जिसको समझना मनुष्य के लिए आवश्यक है। मान लीजिए, यहाँ अन्धकार के मध्य में एक बहुत बड़ी रेखा है। उस रेखा को हम नहीं देखते, परन्तु उसके ऊपर एक तेजोमय विन्दु है, जो कि आगे की ओर खिसकता जाता है। जैसे-जैसे यह विन्दु उस रेखा पर अग्रसर होता जाता है, वह रेखा के भिन्न-भिन्न भागों को देदीप्यमान करता जाता है और रेखा का जो भाग पीछे छूट जाता है, वह फिर अन्धकारमय हो जाता है। हमारे चैतन्य की रेखा पर वर्त्तमान उस तेजोमय विन्दु के साथ खूब अच्छी तरह से तुलना की जा सकती है। क्योंकि उसके अतीत के अनुभवों के स्थान पर वर्त्तमान काल के अनुभव आकर अवस्थित हो जाते हैं। परन्तु फिर भी वे अनुभव वर्त्तमान रहते हैं, यद्यपि उनकी उपस्थिति का ध्यान हमें नहीं रहता। वे हमारे मन और शरीर पर अपना प्रभाव डालते रहते

हैं, यद्यपि हम जान नहीं पाते। हर एक व्यापार, जो इस समय चेतना की सहायता के बिना ही हो रहा हो, वह कभी चेतन था। उसे क्रियाशील होने के लिए यथेष्ट शक्ति प्रदान की जा चुकी है।

हर एक नीति शास्त्र में यह एक बड़ी भारी त्रुटि है कि वे मनुष्य को पाप-कर्म करने से अपने को बचा रखने के लिए कोई उपाय नहीं सिखलाते। प्रत्येक नीतिशास्त्र यह उपदेश देता है—चोरी मत करो। कैसा अच्छा उपदेश है। परन्तु फिर भी मनुष्य चोरी क्यों करता है? बात यह है कि चोरी, डकैती आदि सभी पाप कर्म करने की प्रवृत्ति मनुष्य के हृदय में स्वतः उत्पन्न होती है। हर एक सुव्यवस्थित डाकू, चोर, मिथ्यावादी, तथा अन्यायी पुरुष और स्त्री शास्त्रों के रहते हुए भी इन प्रवृत्तियों के ही दास हैं। यह सचमुच एक बहुत ही भयङ्कर मनोवैज्ञानिक समस्या है। हमें मनुष्य को बहुत ही उदार दृष्टि से देखना चाहिए। सदाचारी होना कोई इतना आसान नहीं है। आप धर्मात्मा हों या अधर्मी, किन्तु जब तक आप स्वतन्त्र—मुक्त—नहीं हैं, एक मशीन के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। आप धर्मात्मा हैं, तो क्या इस बात का आपको गर्व करना चाहिए? कदापि नहीं! आप धर्मात्मा इस लिए हैं, कि पाप-कर्म करने में समर्थ नहीं हैं।

ठीक इसी तरह दुराचारी मनुष्य भी शुभ कर्म करने में समर्थ नहीं है। जिस परिस्थिति में वह दुराचारी पुरुष है, उसी में यदि आप भी होते तो पता नहीं कि आपका आचरण कैसा होता। गली-गली मारी-मारी फिरनेवाली—दुराचारिणी—स्त्री और जेल में सड़नेवाला चोर, महात्मा ईसा हैं, जिनका बलिदान इसलिए हो रहा है कि आप धर्मिष्ठ बन सकें। यही प्रकृति का अटूट नियम है। हर एक चोर, हर एक हत्यारा, हर एक अन्यायी, हर एक दुर्बलकाय; हर एक शठ, सभी हमारे लिए महात्मा ईसा के अवतार

हैं। जिस तरह महात्मा ईसा, जो ईश्वर के अवतार थे, हमारी वन्दना के पात्र हैं, ठीक वैसे ही दुरात्मा रूपी ईसा भी हमारे लिए आराध्य हैं। यह हमारा सिद्धान्त है। मैं इसे छोड़ नहीं सकता। हमारा नमस्कार पुण्यात्मा और धर्मिष्ठ के चरणों में भी पहुँचता है और दुरात्मा कुकर्मी के चरणों में भी। वे सभी हमारे गुरु हैं, सभी हमारे आध्यात्मिक पिता हैं, सभी हमारे उद्धारक हैं। हम दूसरे को अभिशाप दे सकते हैं, दूसरों की निन्दा कर सकते हैं, फिर भी उनकी असफलताओं से लाभ उठाते हैं। हम दूसरों की प्रशंसा कर सकते हैं और उनके शुभ कर्मों से लाभ उठा सकते हैं। यह बात पूर्ण सत्य है। हम दुराचारिणी स्त्री को अवज्ञा की दृष्टि से देखते हैं, वह इसलिए कि समाज ऐसा चाहता है। वह दुराचारिणी, जिसके दुराचार हमारी कुल-ललनाओं के सतीत्व के कारण हैं, हमारी उद्धारक हैं। इस विषय को सोचना चाहिए। प्रत्येक स्त्री-पुरुष को इस पर विचारकरना चाहिए। यह सत्य है, स्पष्ट, बहुत खरा सत्य है। जितना ही अधिक इस संसार को देखते हैं, जितने ही अधिक पुरुषों तथा स्त्रियों को देखते हैं उतना ही हमारा विश्वास दृढ़ होता जाता है। किसकी हम निन्दा करें। किसकी प्रशंसा करें। मनुष्य के गुण और दोष दोनों ही तो मुझे देखने हैं।

हमारे सामने कार्य्य बहुत ही विस्तृत है। कितनी ही ऐसी भावनायें अपने आप उदय होकर हमें चञ्चल करने लगती हैं। ये हैं भी बहुत बड़ी संख्या में। हमारा सब से पहला कर्त्तव्य है इन भावनाओं पर अधिकार करके इन्हें नियन्त्रित करना।

इसमें सन्देह नहीं कि निन्द्य कर्म का स्थान चैतन्य क्षेत्र पर ही है, परन्तु वह कारण, जो कि निन्द्यकर्म का उत्पादक है, अचेतना के साम्राज्य में बहुत दूर था, दृष्टिशक्ति से परे था, अतएव वह अधिक प्रबल है।

क्रियात्मक मनोविज्ञान सबसे पहले अपनी शक्ति अचेतना पर ही नियन्त्रण करने में लगाता है। हम जानते भी हैं कि अचेतना पर नियन्त्रण करना हमारी शक्ति से परे नहीं है। क्यों? क्योंकि हम जानते हैं कि अचेतना का कारण चेतना है। बात यह है कि जितने भी विचार हमारी चेतना शक्ति में नहीं हैं, जिन जिन बातों या विषयों का स्मरण हम नहीं कर पाते एक दिन वे सभी विचार, सभी बातें या विषय, हमारी चेतना में थे, क्रमशः लाखों नवीन विचारों के नीचे दबते दबते अचेतना में निमग्न हो गये हैं। पहले के हमारे चेतना अवस्था के व्यापार, सोच-विचार कर सम्पादित किये जाने वाले क्रिया-कलाप अब प्रस्तरीभूत होगये हैं, उनकी ओर हमारी दृष्टि ही नहीं जाती। परन्तु स्मरण रखिए कि अचेतना में यदि कर्म निन्द्य करने की शक्ति है, तो उसमें शुभ और पुण्य कर्म करने की भी शक्ति विद्यमान है। हम अपने आप में कितनी ही वस्तुयें सञ्चित किये हुए हैं, मानो तरह तरह की वस्तुयें हमारी जेब में भरी हैं और हम उन्हें भूल गये हैं, हमें कभी उनका स्मरण तक नहीं आता। उन वस्तुओं में से कुछ ऐसी भी हैं, जो सड़ कर विष उत्पन्न करती हैं। वे ही अत्यधिक अनर्थकारी होकर ऐसे कारण उत्पन्न कर देती हैं कि वे हमारी मनुष्यता का विघात कर डालती हैं, किन्तु हमें उन कारणों तथा उनकी उत्पत्ति का पता तक नहीं चलता। इसलिए वास्तविक मनोविज्ञान का कर्तव्य है कि वह इस प्रकार के समस्त विचारों को चेतना के अधिकार में लाकर उन्हें नियन्त्रित करे। सब से बड़ा कार्य्य है मनुष्य को उद्बोधित करके उसे अपने आपको पूर्ण रूप से अधिकार में कर रखने के योग्य बनाना। हमारे शरीर के जिन जिन यकृत आदि अंगों को स्वयंचालित कहा करते हैं, वे भी इच्छा के अनुकूल चलाये जा सकते हैं, प्रयत्न करने पर आज्ञाकारी बन सकते हैं।

अचेतना को नियन्त्रित करना हमारे अध्ययन का पहला विषय है।

उसके बाद हमें चेतना से आगे बढ़ना होगा। जिस प्रकार अचेतनता में वे जाने-समझे किये गये कार्य चेतनता के नीचे थे, ठीक उसी तरह एक ऐसा भी कार्य है जो चेतनता से ऊपर है। जब मनुष्य चेतना से भी ऊपर की अवस्था में पहुँच जाता है, दिव्य ज्ञान का अधिकारी बन जाता है, तभी वह मुक्त और धन्य हो जाता है। वैसी अवस्था में उसके लिए मृत्यु अमरता हो जाती है, निर्बलता अपरिमित शक्ति हो जाती है और लोहे की शृङ्खलायें स्वतन्त्रता। यही लक्ष्य है, आत्मज्ञानी का अपरिमित राज्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमें दोहरा काम करना है। हमारे सामने पहला काम तो यह है कि हम इडा और पिंगला का, जो नाड़ियाँ साधारण रूप से क्रियाशील रहती हैं, सदुपयोग करके चेतना शक्ति की सहायता से होने वाले कार्यों पर नियन्त्रण करें। उसके बाद चेतना शक्ति से भी आगे बढ़ने, दिव्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए उद्योग करते रहें।

श्रुतियों में लिखा है —वही एक मात्र योगी है, जो चित्तवृत्ति को—प्राणवायु को—एकाग्र करने के लिए चिरकाल तक प्रयत्न करते करते इस सत्य को प्राप्त करले। इस अवस्था में सुषुम्ना नाड़ी खुल जायगी और उसमें एक वह धारा प्रवेश करेगी, जिसे यह मार्ग पहले और कभी नहीं प्राप्त हुआ था। इस सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करके प्राणवायु क्रमशः भिन्न-भिन्न चक्रों में होती हुई मनुष्य के मस्तिष्क में वर्तमान कमल-दल पर पहुँचती है। उसी अवस्था में योगी को आत्मदर्शन होता है और वह ब्रह्ममय हो जाता है।

हम में से प्रत्येक व्यक्ति योग की इस चरम सीमा पर पहुँच सकता है। परन्तु यह कार्य बड़ा ही कठोर है। यदि कोई व्यक्ति इस सत्य को प्राप्त करना चाहता है तो केवल व्याख्यान सुनने या व्यायाम के रूप

में थोड़ा सा प्राणायाम कर लेने से उसे कोई लाभ न होगा। इसके लिए बड़े प्रयत्न की आवश्यकता पड़ेगी। प्रत्येक कार्य्य के लिए तैयारी करनी पड़ती है। बत्ती जलाने में कितना समय लगता है? एक सेकंड भर ही न। परन्तु उसके लिए भला तेल बत्ती संग्रह करने या मोमबत्ती बनाने में कितने समय की आवश्यकता पड़ती है! भोजन करने में ही कितना समय लगता है? अधिक से अधिक आध घंटा। परन्तु भोजन बनाने तथा उसके लिए आवश्यक सामग्रियां एकत्र करने मे घंटों लग जाते हैं। हम सेकंड भर में बत्ती तो जला देते हैं, परन्तु यह भूल जाते हैं कि इसके लिए तेल बत्ती या मोमबत्ती ही मुख्य वस्तु है।

इसमें सन्देह नहीं कि इस लक्ष्य पर पहुँचना, आत्म-ज्ञान का अधिकारी बनना कोई साधारण काम नहीं है, यह बहुत ही कष्ट-साध्य है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सफलता से निराश होकर हम बैठ जावें।

ध्यान रखने की बात है कि इस दिशा में हम यदि थोड़े से भी थोड़ा प्रयत्न करते हैं, तो वह कभी निरर्थक नहीं होता। उसका फल हमें मिलता अवश्य है। गीता में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा—जो व्यक्ति जीवन भर प्रयत्न करके भी योग में सिद्धि नहीं प्राप्त कर पाते, क्या वे ग्रीष्म ऋतु के बादल के समान नष्ट हो जाते हैं! इसके उत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा—हे तात, संसार में कुछ भी नष्ट नहीं होता। मनुष्य का कर्म ज्यों का त्यों बना रहता है और यदि वह एक जन्म में योग का फल नहीं प्राप्त कर पाता तो दूसरे जन्म में वह अवश्य ही उस फल का अधिकारी होता है। उदाहरणार्थ महात्मा ईसा, बुद्ध तथा स्वामी शङ्कराचार्य्य को ही ले लीजिए। इन महानुभावों ने बाल्यकाल से जो अलौकिक प्रतिभा दिखलाई थी, वह उन्हें कहाँ से प्राप्त हुई? वह पूर्व-सञ्चित कर्म का ही फल तो था।

प्राणायाम तथा आसन आदि करने से योग में सहायता अवश्य मिलती है, परन्तु वास्तव में ये सब क्रियायें केवल शारीरिक हैं। योग-सिद्धि तो तभी होती है, जब कि हम अपने मन को भी उसके अनुकूल बनाने में समर्थ हो सकें। वही वास्तव में मुख्य और अधिक श्रमसाध्य कार्य है। इसके लिए हमें सब से पहले अपने जीवन को शान्तिमय तथा आडम्बर-शून्य बनाना चाहिए।

यदि आप योगी होना चाहते हैं तो आपके लिए सब से पहले यह आवश्यक होगा कि संसार के सारे झंझटों को त्याग दें और अपनी परिस्थिति इस प्रकार की बना लें जिससे कि सदा एकान्त में रह सकें। साथ ही मन में किसी प्रकार की चिन्ता का भी उदय न हो। जो व्यक्ति तरह तरह के सांसारिक सुखों का उपभोग करते हुए आत्मदर्शी बनने की कामना करता है, वह ठीक उस मूर्ख के समान है, जो घड़ि-याल को लकड़ी का कुन्दा समझ बैठता है और उसी को पकड़ कर नदी पार करना चाहता है। "तू सब से पहले ईश्वर के राज्य में पहुँचने का प्रयत्न कर, वहाँ सारी वस्तुयें अपने आप तेरे लिए उपस्थित हो जायँगी।" यह एक बहुत बड़ा कर्तव्य है, यह ईश्वरीय आदेश है। संसार में जीवन का उपयोग तभी है जब आप एक आदर्श के लिए जीवित रहें, और उस परमोत्कृष्ट आदर्श आत्म-दर्शन की अभिलाषा के अतिरिक्त और किसी भी वस्तु को मस्तिष्क में स्थान न दें। आइए हम लोग एक मात्र उसी वस्तु की उपलब्धि में अपनी समस्त शक्ति लगावें जो कभी असफल न हो सके, निरर्थक न सिद्ध हो। वह है हमारा आध्यात्मिक उत्कर्ष। हमारे हृदय में साधना के लिए वास्तविक अभिलाषा है तो उसके लिए हमें कठिन से कठिन प्रयत्न करना ही पड़ेगा और प्रयत्न करते करते हम उस दिशा में उन्नति भी कर लेंगे। इस दिशा में प्रयत्न करते समय हम से त्रुटियाँ हो

सकती हैं, परन्तु वे त्रुटियाँ भी पवित्र होंगी और वे अज्ञात रूप से हमारी सहायता करेंगी।

आध्यात्मिक जीवन का जो सब से अधिक सहायक है वह है ध्यान। ध्यान के समय हम अपने आपको समस्त सांसारिक अवस्थाओं से पृथक् करके दिव्य रूप में अनुभव करते हैं। ध्यान करते समय हमें वाह्य जगत् की किसी भी वस्तु से सहायता लेने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। आत्मा का संस्पर्श मलिन से मलिन स्थान में भी बहुत ही उज्ज्वल और चमकीला रंग पोत सकता है। यह आत्मा घृणित से भी घृणित वस्तु को सुरभित कर सकती है, दुरात्मा को भी स्वर्गीय बना सकती है। यह हर तरह की शत्रुता, हर तरह का ईर्ष्या द्वेष तथा स्वार्थ-परायणता आदि को दूर करा देती है। शरीर की हम जितनी ही कम चिन्ता करें, उतना ही अच्छा है। शरीर ही एक मात्र ऐसी वस्तु है, जो हमें नीचे खींच लाती है। यह बन्धन, अपने पराये का ज्ञान, हमें दुःखमय बनाता है। इस बात का ही ज्ञान हमारे लिए आवश्यक है। हमारे मन में इस प्रकार की भावना होनी चाहिए कि हम आत्मा हैं, शरीर नहीं। यह विश्व, जिसमें कि हर तरह की अच्छाइयाँ और बुराइयाँ वर्तमान हैं और जिसमें भिन्न भिन्न व्यक्तियों तथा वस्तुओं का परस्पर एक दूसरे से भिन्न भिन्न प्रकार का सम्बन्ध होता है, चित्र-पट की चित्रकारी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। हम उस चित्रपट को निरन्तर देखते रहते हैं और भ्रमवश संसार की सभी वस्तुओं, सभी भौतिक पदार्थों, के अस्तित्व का अनुभव करने लगते हैं।*

---

* केलिफोर्निया में दिया हुआ एक भाषण।

# ३—परमानन्द का मार्ग

आज मैं वेद की एक कथा सुनाऊँगा। वेद हिन्दू जाति के धार्मिक साहित्य के विशाल संग्रह हैं। इन वेदों का अन्तिम भाग वेदान्त कहलाता है। इसमें वेदों के सिद्धान्त विशेषतः जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध आदि का वर्णन है। वेद प्राचीन संस्कृत में लिखे गये हैं जो वर्तमान संस्कृत से, जिसमें हमारे पुराण काव्य आदि लिखे गये हैं, भिन्न हैं। इन वेदों की रचना अनादि काल में हुई थी। अस्तु कथा इस प्रकार है—एक आदमी था जिसने एक बहुत बड़े यज्ञ का आयोजन किया। हिन्दू धर्म में यज्ञों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। यज्ञों के भी बहुत से भेद हैं। जो लोग यज्ञ करते हैं, वे वेदी बना कर हवन-कुण्ड में आहुति डालते हैं और वेद के मन्त्रों का पाठ करते हैं। इस प्रकार जितनी बार हवन-कुण्ड में आहुति डाली जाती है, उतनी ही बार मन्त्र भी पढ़े जाते हैं। हवन समाप्त होने पर यज्ञकर्त्ता ब्राह्मणों तथा दीन दुखियों को दान देता है। हर एक यज्ञ में दान की विधि एक दूसरे यज्ञ से भिन्न प्रकार की होती है।

जिस समय की यह बात है, उन दिनों में एक ऐसा भी यज्ञ किया जाता था जिसमें यज्ञ करने वाला अपना सर्वस्व दान करके निःस्व हो जाता था। यहाँ जिस यज्ञकर्त्ता का उल्लेख किया जाता है, वह धनी तो था किन्तु कृपण था। साथ ही इस दुष्कर यज्ञ की कीर्ति का भी लोभ वह न संवरण कर सका। यज्ञ की अभिलाषा से उसने यज्ञ तो किया किन्तु सर्वस्व दान न करके लूली लँगड़ी और अन्धी गौवें, जिनके लिए दूध देना सम्भव न था; देकर दान-पात्रों तथ याचकों को टाल दिया। उसके नचिकेता नामक एक पुत्र था। पिता के निकृष्ट दान के कारण उसे बड़ा दुख हुआ। उसने सोचा कि इस दान के कारण पुण्य और यश के भागी होने की अपेक्षा मेरे पिता अधर्म और अयश ही

के अधिकारी होंगे। पिता की त्रुटि को सुधारने के लिए नचिकेता ने अपना ही उत्सर्ग करने का संकल्प किया।

पिता के पास जाकर नचिकेता ने कहा—आप मुझे किसको प्रदान करते हैं। पिता ने इसका कोई उत्तर न दिया। परन्तु नचिकेता जब बार बार आग्रह करने लगा, तब पिता क्रोध में आगया। उसने कहा—तुझे मैं मृत्यु को दान करता हूँ। तू यम के द्वार पर जा।

पिता की रोषमय आज्ञा को नचिकेता ने शिरोधार्य किया। वह सीधे यमपुर में पहुँचा। उस समय यम कहीं गये थे, अतएव वह उनकी प्रतीक्षा करता रहा। यम तीन दिन के बाद जब लौटकर आये, तब उन्होंने नचिकेता को भूखा-प्यासा द्वार पर खड़ा पाया। उन्हें इस बालक पर बड़ी दया आई। उन्होंने कहा—हे ब्राह्मण, तुम हमारे अतिथि हो, तीन दिन से निराहार और निर्जल पड़े हो, इसका हमें दुख है। हम तुम्हें नमस्कार करते हैं। हमारे द्वार पर तुम्हें जो क्लेश हुआ है, उसके बदले में हम तीन वर देने के लिए प्रस्तुत हैं।

बालक नचिकेता ने विनीत भाव से कहा—महाराज, पहला वर मुझे यह दीजिए कि मुझ पर से मेरे पिता का रोष दूर हो जाय। दूसरे वर में उसने एक यज्ञ का रहस्य जानने की इच्छा की। तब तीसरे वर की बारी आई। नचिकेता ने कहा—महाराज, इस वर में मुझे वह ज्ञान प्रदान कीजिए, जिससे कि मैं मृत्यु के रहस्य को जान सकूँ। मेरी यह जानने की बड़ी अभिलाषा है कि मृत्यु के बाद मनुष्य की क्या गति होती है। कुछ लोग कहते हैं कि उसका अस्तित्व नष्ट हो जाता है, और कुछ की राय में वह अविनाशी है; मेरे इस सन्देह को निवृत्त करने की कृपा कीजिए।

नचिकेता के इस प्रश्न के उत्तर में यम ने कहा—प्राचीन काल में देवताओं ने इस रहस्य का उद्घाटन करने का प्रयत्न किया था। यह

रहस्य इतना सूक्ष्म—इतना जटिल है कि इसका समझना कोई आसान काम नहीं है। अच्छा होता कि तुम कोई और वर माँगते, यह वर तुम्हारे उपयुक्त नहीं है। तुम सौ वर्ष का दीर्घ जीवन माँग सकते हो, जितने चाहो गाय-भैंस, घोड़े आदि पशु माँग सकते हो। मैं राज्य भी तुम्हें दे सकता हूँ, किन्तु इस बात का आग्रह तुम छोड़ दो। मानव-जीवन में सुखोपभोग के लिए जितनी भी वस्तुयें आवश्यक होती हैं, मनुष्य जितने भी विषयों की कामना कर सकता है, वे सभी मैं देने को तैयार हूँ किन्तु इस रहस्य के जानने की चिन्ता तुम छोड़ दो।

नचिकेता को और किसी वस्तु की कामना ही न थी। उसने कहा—धन-सम्पत्ति से मनुष्य की इच्छा कभी पूर्ण नहीं होती। जितना ही जो पाता है, उतनी ही उसकी आवश्यकता बनी रहती है। इस लिए मुझे यह न चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि मुझे यह आवश्यक ही होता तो यह तो केवल आपके दर्शन से ही उपलब्ध हो सकता है। आपका शासन जब तक रहेगा, उतने दिन तक मुझे कोई मार भी नहीं सकता। ऐसी दशा में मुझे इन सब वस्तुओं की कामना करने की आवश्यकता ही क्या है? मृत्यु लोक में निवास करने वाला एक मनुष्य, जो वहाँ के आमोद-आह्लाद की नश्वरता से परिचित है, यदि अमर धाम में निवासी करने वाली किसी मुक्त आत्मा की संगति पाजाय, तो उसे वह ज्ञान उपलब्ध हो सकता है, जिसके द्वारा वह आजन्म आनन्द में रह सके। अतएव इस लोक से प्रयाण करने के बाद उस महान् जीवात्मा की क्या गति होती है, उसी का रहस्य मुझे बताने की कृपा कीजिए, और किसी वस्तु की अभिलाषा मुझे नहीं है। नचिकेता यदि कुछ चाहता है, तो वह केवल मृत्यु का रहस्य।

नचिकेता का यह आग्रह देखकर यम को बड़ा सन्तोष हुआ। पहले मैं यह बतला चुका हूँ कि इस विषय का ज्ञान मन को मोक्ष की ओर अग्रसर होने के लिए प्रवृत्त करता है। ध्यान रखने की बात है कि

पहली योजना यह है कि मनुष्य सत्य के अतिरिक्त और किसी वस्तु के प्राप्त करने की इच्छा न करे। सत्य की भी केवल सत्य के ही निमित्त कामना करे। देखो, यम जितनी भी वस्तुयें देने को प्रस्तुत हुए, बालक नचिकेता ने सभी को अस्वीकार कर दिया। राज्य, धन विभव, दीर्घ जीवन आदि किसी की भी उसने परवा न की। केवल एक मात्र ज्ञान-सत्य—के प्राप्त करने के लिए वह उन सभी वस्तुओं का बलिदान करने के लिए तैयार होगया। इस तरह की त्यागमय भावना से ही सत्य की प्राप्ति भी हो सकती है।

यम ने प्रसन्न भाव से नचिकेता से कहा—मानवजीवन के दो मार्ग हैं, एक सांसारिक सुखोपभोग का और दूसरा परमानन्द यानी मोक्ष का। ये दोनों ही भिन्न-भिन्न प्रकार से मनुष्य को आकर्षित करते हैं। इन दोनों में से जो व्यक्ति परमानन्द के मार्ग का अनुसरण करता है, वही ज्ञानी है। जो सांसारिक सुखों के मार्ग के मार्ग का अनुसरण करता है, वह अधःपतन की ओर अग्रसर होता है। हे नचिकेता, मैं तुम्हारी प्रशंसा करता हूँ, जो कि तुम्हें इन सांसारिक सुखों की अभिलाषा नहीं है। मैंने तुम्हें हर तरह के प्रलोभन दिये, किन्तु उनमें से एक भी तुम पर प्रभाव न डाल सका। तुम्हारे हृदय में यह बात बद्धमूल हो चुकी है कि सुखों की अपेक्षा ज्ञान कहीं अधिक महत्व की वस्तु है। तुम यह भी समझ गये हो कि जो व्यक्ति अज्ञान में पड़ा रहकर आमोद-आह्लाद की चिन्ता में ही निमग्न रहता है, वह सदसद् विवेक से रहित पशु से भिन्न नहीं है। फिर भी बहुत से ऐसे लोग हैं, जो अज्ञान रूपी अन्धकार में फँसे रहते हैं, किन्तु हृदय के अभिमान के कारण अपने आपको एक महान् तत्त्वज्ञ समझते हैं। इस श्रेणी के लोग वैसे ही भटकते फिरते हैं, जैसे कि कोई दृष्टिहीन व्यक्ति एक अन्धे का सहारा लेकर भटभटाता फिरता है। हे नचिकेता, यह सत्य ऐसे लोगों के हृदय में नहीं प्रकाशमान

होता जो कि अबोध बालकों के समान ज़रा सी मिट्टी का ढेर देख कर भूल जाते हैं। वे लोग न तो लोक ही को समझ पाते हैं और न पर-लोक ही को। वे दोनों ही लोकों को अस्वीकार करते हैं। यही कारण है कि वे बार बार मेरे फन्दे में पड़ते रहते हैं। ऐसे कितने ही लोग हैं, जिन्हें इस तत्त्व का श्रवण करने का अवसर ही नहीं मिलता। कितने लोग इसे सुनकर भी हृदयंगम नहीं कर पाते। इस विषय का समुचित ज्ञान कराने के लिए एक तो उपदेशक में असाधारण क्षमता होनी चाहिए, साथ ही जिसे उपदेश दिया जाय उसकी धारणा-शक्ति का भी असाधारण होना विशेष रूप से आवश्यक है।

उपदेशक यदि साधना के क्षेत्र में यथेष्ट उन्नति न प्राप्त कर चुका हो तो इस तत्त्व को उसके मुँह से सैकड़ों बार सुनने पर भी आत्मा प्रकाशमान् नहीं होता। निरर्थक तर्क वितर्क करके अपने मन को उद्विग्न मत करो। हे नचिकेता, यह सत्य केवल उसी हृदय में उद्भासित होता है, जो कि विशुद्ध हो चुका हो। वह, जिसका दर्शन असीम कठिनाई के बिना नहीं उपलब्ध हो सकता, वह, जो अप्रकट है, वह, जो हृदय के अन्तस्तल की गुहा में अन्तर्हित है, वह जो चिर सनातन है, इन चर्म-चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता। उसके दर्शन के लिए और नेत्र अपेक्षित हैं। उसका दर्शन आत्मा की दृष्टि से उपलब्ध होता है। उसके दर्शन का सौभाग्य पाकर मनुष्य सुख-दुख से रहित हो जाता है। जिसे यह रहस्य मालूम हो जाता है, उसकी निरर्थक कामनायें तिरोहित हो जाती हैं। वह सर्वोत्कृष्ट अनुभव प्राप्त कर लेता है और सदा के लिए धन्य हो जाता है।

नचिकेता, वही—वह सत्य ही—परमानन्द अर्थात् मोक्ष का मार्ग है। वह पाप-पुण्य, कर्तव्याकर्तव्य तथा भूत-भविष्य और वर्तमान से परे है। जो उसे जानता है, वही ज्ञानी है। उसी का अन्वेषण

वेद करते हैं और उसी के दर्शन के निमित्त लोग कठोर से भी कठोर तपस्यायें किया करते हैं। मैं तुम्हें उसका नाम बतलाता हूँ। उसका नाम "ओ३म्" है। यह शाश्वत "ओ३म्" ब्रह्म है। वह अविनाशी है। जो व्यक्ति उसके तत्व को जानता है, उसकी सारी कामनायें अपने आप पूर्ण हो जाती हैं।

हे नचिकेता, तुम मनुष्य की जिस आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो, वह जन्म और मरण से परे है। इस जीवात्मा का आदि नहीं है। यह अविनाशी है, शाश्वत है। शरीर के नष्ट हो जाने पर भी यह ज्यों का त्यों बना रहता है। यदि कोई समझता है कि मैं किसी की हत्या कर सकता हूँ, तो यह उसका भ्रम है। इसी तरह जो समझता है कि मैं मार डाला जाऊँगा, उसका भी भ्रम है। बात यह है कि यह जीवात्मा किसी के द्वारा मारा नहीं जा सकता। यह अनन्त है, परमाणु से भी लघु तथा बृहत् से भी बृहत्तम है। यह नय का स्वामी है। प्राणिमात्र के हृदय के अन्तस्तल की गुहा में इसका निवास है। जिस मनुष्य का अन्तःकरण निष्पाप और निष्कलंक है, वही, उसी सर्व-नियन्ता की अनुकम्पा से पूर्ण विभव में उसका दर्शन कर पाता है। (ईश्वर की साधना करने पर ही हम उसकी कृपा के अधिकारी हो सकते हैं) स्थित रह कर भी वह चलता है, लेटा रह कर भी वह सर्वत्र पहुँच जाता है।

केवल वे ही लोग, जिनका हृदय निष्पाप और पवित्र है, जिनकी बुद्धि बहुत ही सूक्ष्म है, उस सर्वगुण-सम्पन्न ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करने के अधिकारी हैं। जहाँ वह अशरीरी है, वहीं हस्त-पादादि युक्त शरीर धारी है। वह निराकार भी है और साकार भी। वह सर्वव्यापी विभु है। उस आत्मा का ज्ञान प्राप्त करके साधक सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है। यह आत्मा न तो वेदों के अध्ययन से उपलब्ध किया जा

सकता है, न बहुत ही उच्च कोटि की प्रतिभा उसका ज्ञान सम्पादित कराने में समर्थ हो सकती है और न बुद्धि की चतुरता तथा पाण्डित्य से ही उसका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। जिस पर उसकी कृपा होती है, वही उसे प्राप्त कर पाता है। उसी पर वह अपनी महिमा को व्यक्त करता है। जो मनुष्य सदा पाप कर्म में निरत रहता है, जिसका मन शान्त नहीं रहता, जो चित्त को एकाग्र करने में असमर्थ है और सदा ही व्यग्र तथा चञ्चल रहता है, वह न तो आत्मा को समझ पाता है और न उसे उसकी अनुभूति ही होती है।

हे नचिकेता, यह शरीर एक रथ है, इन्द्रियाँ उसमें जुते हुए घोड़े हैं, मन घोड़े की रास है, बुद्धि सारथी है और आत्मा उस रथ का सवार है। जब वह आत्मा सारथी रूपी बुद्धि के साथ स्वयं संयोग करता है, तब उसकी सहायता से मन रूपी रास और इन्द्रिय रूपी अश्वों से संयुक्त होता है। इससे यह आत्मा उपभोक्ता कहलाता है। इस प्रकार इन्द्रियों की सहायता से वह आत्मा समस्त विषयों का उपभोग करता है और व्यापारशील रहता है। जो लोग विवेक-रहित होते हैं, जिनका मन उनके अधिकार में नहीं रहता, उनकी ज्ञानेन्द्रियाँ उस दुष्ट घोड़े के समान अवश होती हैं, जिसे कि अपनी समस्त शक्ति का उपयोग करके भी सारथी ठीक रास्ते पर नहीं चला पाता। परन्तु जो मनुष्य विवेकशील होता है, और जिसका मन सदा उसके अधीन रहता है, उसकी इन्द्रियाँ भी सदा उसकी इच्छा के ही अनुकूल कार्य्य किया करती हैं, जैसे कि अच्छे घोड़े सदा ठीक यन्ता के इशारे से ही चला करते हैं। जिस व्यक्ति को सदसद् का विवेक है, जिसका मन सदा सत्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहता है, जो सदा शुद्ध और पवित्र रहता है, वही उस सत्य का दर्शन प्राप्त कर सकता है। उसे प्राप्त करके फिर वह जन्म-मरण के फेर में नहीं पड़ता।

हे नचिकेता, यह आत्मदर्शन—यह तत्त्वज्ञान—बहुत ही कठिन विषय है। यह मार्ग बहुत विस्तृत है। निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचना कोई आसान काम नहीं। जिन्हें बहुत ही सूक्ष्म दृष्टि मिली है केवल वे ही उसका दर्शन कर पाते हैं, वे ही उसको समझते हैं। परन्तु इसमें निराश होने की बात नहीं है, उठो, जागो, और कर्म-निरत होओ! जब तक लक्ष्य पर न पहुँच सको अपने उद्योग में शिथिलता मत आने दो। तत्त्ववेत्ताओं का मत है कि यह मार्ग इतना कठिन है कि इस पर चलना छुरे की धार पर चलने के समान है। जो हर तरह की विषय-वासना, रूप, रस और स्पर्श से परे है, जो सदा समान अवस्था में रहता है, जो आदि-अन्त से रहित है, जो अमेय और अलक्ष्य है, साथ ही बुद्धि के द्वारा भी गम्य नहीं है, उसी को केवल उस सर्वनियन्ता को हृदयङ्गम करके मनुष्य मृत्यु के मुख से अपनी रक्षा कर पाता है।

इस प्रकार यम ने नचिकेता को वह लक्ष्य स्थान बतलाया, जिस पर पहुँचना मनुष्य-मात्र का कर्तव्य है। यम के इन उपदेशमय वाक्यों से पहली बात जो हमें ज्ञात होती है, वह यह है कि जन्म, मृत्यु, दुख, क्लेश तथा मन को चञ्चल करने वाले अन्यान्य विषय पर, जिनका कि संसार में हमें सामना करना पड़ता है, सत्य का ज्ञान प्राप्त करने पर ही विजय मिल सकती है। सत्य क्या है? जो सदा एक रूप में ही रहता है, जिसमें कभी किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। वह है मनुष्य की आत्मा।

बाद को यह बात बतलाई गई है, कि उसे जानना आसान काम नहीं है। जानने का तात्पर्य केवल बौद्धिक ज्ञान से नहीं है। इसकी निष्पत्ति तो तभी हो पाती है, जब कि मनुष्य को सिद्धि मिल जाय। यह हम बार बार पढ़ चुके हैं कि इस मोक्ष का हमें प्रत्यक्ष करना, अनुभव करना है। उसे हम नेत्रों से नहीं देख पाते।

उसका प्रत्यक्ष—अनुभव—भी बहुत ही सूक्ष्म होता है। जिसके द्वारा दीवार तथा पुस्तकें आदि दृष्टिगोचर होती हैं, वह तो स्थूल है। परन्तु—वह प्रत्यक्ष, जिसके द्वारा सत्य की अनुभूति होती है, —उसे बहुत ही सूक्ष्म होना चाहिए और वही इस ज्ञान का सारा रहस्य है। इसके बाद यम कहते हैं कि मनुष्य को बहुत ही विशुद्ध होना चाहिए। यह विशुद्धता ही उस सर्व-नियन्ता की अनुभूति का मार्ग है। आगे चल कर वे हमें उस आत्मा—ब्रह्म—की प्राप्ति के ओर मार्ग बतलाते हैं।

वह स्वयंभू इन्द्रियों से बहुत दूर है। इन्द्रियाँ वह करण अर्थात् यन्त्र हैं, जो बाह्य जगत् को ही देखती हैं, परन्तु वह स्वयंभू आत्मा अन्तर्दृष्टि से ही देखा जाता है। तुम्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि जिज्ञासु—इस तत्त्व के जानने की अभिलाषा रखने वाले—के लिए जो योग्यता अपेक्षित है, वह है दृष्टि को भीतर की ओर आकर्षित करके आत्मा को जानने की अभिलाषा। इस प्रकृति में हम जिन मनोहर वस्तुओं को देखते हैं, वे बहुत ही सुन्दर हैं। परन्तु उनकी ओर अवलोकन करना ईश्वर के दर्शन का मार्ग नहीं है। हमें यह सीखना चाहिए कि हम अपनी दृष्टि को किस प्रकार अन्तर्मुखी कर सकते हैं। नेत्रों की बाह्य जगत को देखने की अभिलाषा को निवृत्त कर देना चाहिए। जब आप किसी ऐसी सड़क पर, जिस पर कि भीड़-भाड़ अधिक होती है, चलते हैं तो आपको अपने साथी की बातचीत सुनने में बड़ी कठिनाई पड़ती है। बात यह है कि उस सड़क पर जो इक्के गाड़ियाँ चलती हैं उनकी घड़घड़ाहट से वहाँ बड़ा कोलाहल मच जाता है। वहाँ इतना कोलाहल होता है कि आपका साथी भी आपकी बातें नहीं सुन पाता। बात यह है कि आपका मन दूर की बातों में लग जाता है और आप अपने पास के आदमी की बात नहीं सुन पाते। ठीक इसी प्रकार हमारे आस-पास जो संसार परिव्याप्त है वह इतना

कोलाहल करता है कि मन को बाहर की ओर खींच ले जाता है। तब भला हम आत्मा को कैसे देख सकें? वह तो अन्तर्दृष्टि से परिदर्शित होता है। उसकी बाहर जाने की प्रवृत्ति रोक दी जानी चाहिए। नेत्रों को अभ्यन्तर की ओर फेरने का यही तात्पर्य है। उनकी बहिर्भूत होने की प्रवृत्ति जब जाती रहेगी तब उनमें केवल उस सर्वनियन्ता की ही महिमा परिलक्षित हो सकेगी।

आत्मा क्या है? हम यह पढ़ चुके हैं कि यह बुद्धि से भी परे है। साथ ही यह भी पढ़ चुके हैं कि यह आत्मा शाश्वत और सर्वव्यापी जीव है। आत्मा भी निर्लेप और निर्विकार है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है। इस प्रकार विभु—सर्वव्यापी—जीव केवल एक ही हो सकता है। ऐसे दो जीव नहीं हो सकते, जो कि समान रूप से ही सर्वव्यापक हो सकें। यह कैसे सम्भव है? इस तरह की दो सत्तायें नहीं हो सकतीं जो कि अनन्त हों। इस बात से यह परिणाम निकलता है कि वास्तव में एक ही आत्मा है और हम, आप तथा समस्त विश्व एक होते हुए भी अनेक रूपों में, परिलक्षित होते हैं। जिस तरह एक ही अग्नि संसार में प्रवेश करके अपने आप को ही भिन्न भिन्न मार्गों से व्यक्त करती है, ठीक वैसे ही यह आत्मा भी प्राणिमात्र की आत्मा होकर अपने आप को विविध आकारों में प्रदर्शित करती है।

अब प्रश्न यह उदय होता है कि यदि यह आत्मा निर्दोष और विशुद्ध है, और समस्त विश्व की यदि एकमात्र सत्ता है, तो इसके किसी पापी और दुराचारी या धर्मिष्ठ और सदाचारी शरीर में प्रवेश करने पर इसकी क्या गति होती है? यह निर्विकार किस तरह रह सकती है?

प्राणिमात्र के नेत्रों में जो दृष्टि-शक्ति होती है, उसके एकमात्र कारण

सूर्य हैं। किन्तु यदि किसी को नेत्र-दोष होता है तो वह अपने उस दोष की छाया सूर्य पर डालने में समर्थ नहीं हो पाता। यदि किसी को पाण्डु रोग हो गया होता है, तो उसे सारी वस्तुयें पीली ही पीली दृष्टिगोचर होती हैं। उस व्यक्ति की भी दृष्टि-शक्ति के कारण सूर्य ही हैं, किन्तु उसके नेत्रों में हर एक वस्तु को पीली देखने का जो गुण है, वह सूर्य को तो नहीं स्पर्श कर पाता। इसी तरह यह एक मात्र जीवात्मा प्रत्येक प्राणी के शरीर में व्याप्त रह कर भी बाहर की पवित्रता या अपवित्रता के संस्पर्श से बचा रहता है।

इस क्षणभंगुर संसार में जो उस सनातन को जानता है, इस अचेतन जगत में जो उस एक चेतन को समझता है, इस बहुत्वमय ब्रह्मांड में जो उस एक रूप को जानता है, और उसे अपने अन्तःकरण में देखता है, वही उस चिरन्तन परमानन्द का अधिकारी होता है, दूसरा नहीं। वहाँ सूर्य नहीं प्रकाशित होते, चन्द्रमा, तारागण तथा विद्युत् की भी प्रभा नहीं दिखाई पड़ती, फिर भला अग्नि-शिखा का पूछना ही क्या। उसके प्रकाशमान होने पर सभी वस्तुयें प्रकाशमान होती हैं। जब मनुष्य के हृदय को क्लेश देने वाली सभी अभिलाषाओं का अन्त हो जाता है, तब जरा-मरण-शील प्राणी अमर हो जाता है। उस दशा में ही उसे ब्रह्म की प्राप्ति होती है। जब हृदय के सारे कल्मष विलीन हो जाते हैं, जब उसकी सारी ग्रन्थियाँ विनष्ट हो जाती हैं, केवल तभी यह जरा-मरण-शील मानव अमर हो पाता है। यही उसके अमर होने, मुक्त होने, का मार्ग है। इस विषय का अध्ययन हमें फलदायक हो। इस विषय का चिन्तन हमारे लिए फलदायक हो, यह हमारा भजन हो, यह हमारे शरीर का बल हो, हम एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से न देखें, सब लोग शान्ति-पूर्वक निवास करें।

इस प्रकार की ही विचार-श्रेणी आपको वेदान्त-दर्शन में मिलेगी। सब से पहली बात यह है कि वेदान्त दर्शन में आपको जो विचार मिलेंगे वे सांसारिक विचारों से भिन्न हैं। वेदों के सब से प्राचीन भाग में उसी विषय का अनुसन्धान किया गया है, जिस विषय का अन्यत्र—अन्य पुस्तकों में—किया गया है। कुछ बहुत ही प्राचीन पुस्तकों में इस विषय का प्रश्न उपस्थित किया गया था कि सृष्टि के आदि काल में कौन सी वस्तु थी जिस समय पृथिवी-आकाश कहीं कुछ नहीं था, जिस समय अन्धकार के ऊपर अन्धकार का ही पर्दा छाया हुआ था, इन समस्त वस्तुओं की सृष्टि किसने की थी? इस प्रश्न के उदय होते ही अनुसन्धान आरम्भ हो गया। वे लोग देवदूतों, देवताओं तथा हर तरह के पदार्थों के सम्बन्ध में विचार करने लगे। इस प्रसङ्ग को पढ़ने से ज्ञात होता है कि आगे चल कर निराशा के कारण लोगों ने इस विषय को ही छोड़ दिया। उस समय अन्वेषकों ने बाहर खोज की और वे कुछ पा न सके। परन्तु आगे चल कर, जैसा कि हम वेदों में पढ़ते हैं, उन लोगों को उस स्वयम्भू की खोज अपने हृदय के भीतर ही करनी पड़ी।

वेदों में यह ज्ञान प्रधान रूप से व्यक्त किया गया है कि यदि हम नक्षत्र-मंडल, नीहारिकामय आकाश, आकाश-गंगा तथा समस्त सृष्टि में जो कि हमें दृष्टिगोचर है, अन्वेषण करें, तो कोई लाभ न होगा, जन्म और मृत्यु की समस्या का हल न हो सकेगा। उन लोगों ने अनुभव किया कि अभ्यन्तर के आश्चर्य-जनक यन्त्र-कौशल का विश्लेषण करना आवश्यक है। इस विश्लेषण ने ही उनके समक्ष सृष्टि के समस्त रहस्यों का उद्घाटन कर दिया। सूर्य्य और नक्षत्र आदि ऐसा करने में समर्थ नहीं हुए। इसके लिए मनुष्य को खंडखंड में विभक्त होना पड़ा था। यह विभाग मनुष्य के शरीर का नहीं बल्कि आत्मा का हुआ था। आत्मा में उन लोगों को उत्तर मिला। क्या उत्तर मिला?

यह कि इस शरीर की आड़ में, यहाँ तक कि मन की भी आड़ में इस शरीर में एक वह पदार्थ निहित है, जो स्वयम्भू है। वह जन्म और मृत्यु से परे है। वह स्वयम्भू सर्वगत, सर्वव्यापी है। बात यह है कि वह आकार से रहित है। जो आकार या शरीर से रहित—निराकार—होता है, जो देश-काल से परिसीमित नहीं रहता, उसका कोई निर्दिष्ट स्थान नहीं होता। वह सर्वगत है, सर्वव्यापक है और हम समस्त प्राणियों में समान रूप से विराजमान है।

मनुष्य की आत्मा क्या है? दार्शनिकों के एक समुदाय का मत है कि एक सत्ता ईश्वर की है और उसके अतिरिक्त अपरिमित आत्मायें हैं, जो रूप, गुण तथा अन्य समस्त बातों में उस ईश्वरीय सत्ता—ब्रह्म—से सर्वथा भिन्न है। यह सिद्धान्त है। इसके उत्तर में एक दूसरे सम्प्रदाय ने कहा कि आत्मा एक अनन्त अपार्थिव सत्ता का अंश है। मानो यह शरीर स्वयं एक छोटा सा संसार है। इस शरीर के अन्तराल में मन और बुद्धि हैं और इन दोनों ही के अन्तराल में आत्मा। ठीक इसी प्रकार यह सारा संसार एक शरीर है। इसके अन्तराल में विश्व-व्यापी मन है और उस मन के भी अन्तराल में विश्व-व्यापी आत्मा। जिस तरह यह शरीर विश्व-व्यापी शरीर का एक अंश है, उसी तरह यह मन विश्व-व्यापी मन का तथा आत्मा का एक अंश है। इस तरह का सिद्धान्त विशिष्टाद्वैतवाद के नाम से प्रसिद्ध है।

अब हम यह जानते हैं कि विश्वव्यापी आत्मा अनन्त है। परन्तु भला अनन्तता में खंड कैसे हो सकता है? यह तोड़ा कैसे जा सकता है? इसमें विभाग किस तरह होगा? यह कहना कि मैं उस अनन्त का एक कण हूँ, बहुत ही कवित्वमय है। परन्तु विवेकशील मन के लिए यह बात बहुत ही बेतुकी है। अनन्त को विभक्त करने का तात्पर्य क्या है? क्या यह कोई परिमेय पदार्थ है, जिसे आप खंड-

खंड में विभक्त कर सकोगे? जिस वस्तु में परिमाण नहीं है, जिसे हम नाप नहीं सकते, उसके खंड भी नहीं किये जा सकते। जिसके खंड करना सम्भव है, उसमें फिर अपरिमेयता नहीं रह जाती। इसका निष्कर्ष यह निकला कि आत्मा जो कि विश्वव्यापी है वह "तुम" हो और 'तुम' एक खंड नहीं, बल्कि उसके पूर्ण अंश हो। 'तुम' ईश्वर के पूर्ण अंश हो। परन्तु ये सब विभिन्नतायें क्या हैं? इस संसार में हमें लाखों विभिन्न आत्मायें मिलती हैं। ये सब क्या हैं? जिस समय पानी के लाखों बुद-बुदों पर सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उस समय उनमें से हर एक में सूर्य की प्रतिमूर्त्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। हर एक बुदबुदे में सूर्य की अविकृत मूर्ति परिलक्षित होती है। इस प्रकार उस समय हमें लाखों सूर्य दिखाई पड़ते हैं, यद्यपि वास्तविक सूर्य केवल एक ही है। इस प्रकार यह माया-विशिष्ट आत्मा, जो कि हम में से प्रत्येक प्राणी के अन्तःकरण में वर्तमान है, ईश्वर की प्रतिमा-मात्र है। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वास्तविक सत्ता, जो कि अन्तराल में है, वह एक मात्र ईश्वर है। उसके समीप हम सभी लोग एक हैं।

इस विश्व ब्रह्माण्ड में आत्मा केवल एक है और वही हम, तुम तथा संसार के अन्य समस्त प्राणियों के शरीर में प्रतिबिम्बित होती है और वह भिन्न-भिन्न आत्मा के रूप में प्रदर्शित होती है। परन्तु हम यह बात नहीं जानते। हमारी धारणा है कि हम सब एक दूसरे से भिन्न हैं और उससे—ईश्वर से—भी भिन्न हैं। जब तक हमारी यह धारणा बनी रहेगी तब तक संसार से दुखों का भी अन्त न होगा। यह भ्रान्ति है। इसके अतिरिक्त दुःख क्लेश का एक और बहुत बड़ा कारण भय है।

भला एक व्यक्ति दूसरे के स्वार्थ का विघातक क्यों बनता है? कारण, वह डरता है कि मैं यथेष्ट सुख न प्राप्त कर सकूंगा। मनुष्य को

भय रहता है कि यथेष्ट धन न प्राप्त कर सकूंगा। इस भय के ही कारण वह दूसरों को हानि पहुँचाता है। इसी से वह दूसरों को धोखा देता है, ठगता है। यदि समस्त विश्व में केवल एक मात्र सत्ता होती तो भला इस तरह का भय क्यों होता? यदि मेरे ऊपर वज्र गिर पड़े तो मैं अपने ही ऊपर स्वयं गिर पड़ा हूँ। क्योंकि इस समस्त विश्व में मैं ही एक मात्र सत्ता हूँ। यदि प्लेग आता है, तो वह मैं हूँ, यदि कोई सिंह आता है, तो मैं हूँ; यदि मृत्यु आती है तो वह मैं हूँ। मैं जन्म और मृत्यु दोनों ही हूँ।

विश्व में दो सत्ताओं का अस्तित्व मानने पर भय का सञ्चार होता है। इस तरह का उपदेश हम सदा से ही सुनते चले आ रहे हैं कि एक दूसरे से प्रेम करो। किस लिए? यह मत तो प्रचारित किया गया था, किन्तु इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है। हमें प्रत्येक व्यक्ति को प्रेममय दृष्टि से क्यों देखना चाहिए? वह इसलिए कि मैं तथा संसार के अन्य समस्त प्राणी अभिन्न हैं। मैं अपने भाई से प्रेम क्यों करूँ? इसलिए कि वह और मैं एक हूँ। इस प्रकार समस्त विश्व के सुख-दुख को समान मानने में ही यह एकता है। हमारे पैरों से कुचले जानेवाले छोटे से छोटे कीड़ों-मकोड़ों से लेकर सृष्टि के बड़े से बड़े प्राणी तक पृथक् पृथक् शरीर धारण करते हुए भी एक ही जीव हैं। सभी मुखों द्वारा तुम खाते हो, सभी हाथों के द्वारा तुम काम करते हो और सभी नेत्रों के द्वारा तुम देखते हो। इन लाखों शरीरों के द्वारा तुम स्वास्थ्य का उपभोग करते हो, तथा रोगों की यन्त्रणा भी सहन करते हो।

जब मन में इस तरह की भावना आ जाती है और हम इसका अनुभव करने लगते हैं तब दुःख-क्लेश और भय का अन्त हो जाता है। मैं मर कैसे सकता हूँ? मेरे अतिरिक्त और तो कुछ है ही नहीं। भय का अन्त हो जाने पर पूर्ण आनन्द और पूर्ण प्रेम आता है। यह विश्व-व्यापी सहानुभूति, विश्व-व्यापी प्रेम और विश्व-व्यापी आनन्द,

जो कि सर्वदा निर्विकार और अपरिवर्तनीय है, मनुष्य को सब से ऊँचे उठा देता है। इसमें प्रतिघात नहीं है। दुःख-क्लेश भी इसका स्पर्श नहीं कर पाते। परन्तु संसार के इन तुच्छ सुखों—विषय-वासना में सदा ही प्रतिघात हुआ करते हैं। इसका समस्त कारण यह द्वैतवाद—इस विश्व तथा ईश्वर के पार्थक्य का भाव है। परन्तु जिस समय हम में यह भावना आजायगी—कि मैं ही ईश्वर हूँ मैं ही विश्व की आत्मा हूँ, मैं सदानन्द हूँ, जीवन-मुक्त हूँ। तब वास्तविक प्रेम उत्पन्न होगा, भय जाता रहेगा और दुःख-क्लेश का अन्त हो जायगा।

# ४—राजयोग

संसार के सभी देशों में लोग बहुत सी अलौकिक बातों पर युग-युगान्तर से विश्वास करते चले आ रहे हैं। हम सभी लोगों ने कुछ बहुत ही असाधारण तथा आश्चर्य-जनक घटनाओं के सम्बन्ध में सुना होगा। हम में से कितने ही ऐसे भी व्यक्ति होंगे जिन्हें इस प्रकार की घटनाओं का व्यक्तिगत रूप से अनुभव भी करने का अवसर मिला होगा। हमें अपने जीवन में कुछ ऐसी बातों का अनुभव करने का अवसर मिला है, जिन्हें पहले बता देने पर वर्त्तमान विषय के समझने में आपको बड़ी सहायता मिलेगी।

एक बार मुझे ऐसे अद्भुत व्यक्ति का हाल मालूम हुआ कि उसके पास कोई भी व्यक्ति जब अपने मन में कोई बात सोच कर आता है, तो उसे देखते ही वह उसके मन की बात बतला देता है। इसके अतिरिक्त मैंने यह भी सुना कि वह जीवन की भावी घटनाओं को भी बड़ी कुशलता से बतला देता है। उस व्यक्ति से मिलने का मुझे बड़ा कौतूहल हुआ। मैं कई मित्रों को लेकर उसके पास गया। हम में सभी ने उससे पूछने के लिए कुछ बातें सोच रक्खी थीं और अपेक्षित प्रश्नों को हम भूल न जायँ, इसलिए हम लोगों ने अपने-अपने प्रश्नों को काग़ज़ पर लिखकर अपनी-अपनी जेब में डाल लिये थे। वह आदमी हम में से एक व्यक्ति को देखते ही हमारे प्रश्नों को दोहरा गया और उनका उत्तर भी देता गया। तब उसने काग़ज़ के एक टुकड़े पर कुछ लिख दिया और उसे मोड़कर मुझे देते हुए कहा कि इसकी पीठ पर अपना हस्ताक्षर कर दीजिए और बिना देखे ही जेब में डाल लीजिए। यही आपका प्रश्न था और यह उत्तर है। इसी तरह उसने हर एक को एक-एक काग़ज़ का टुकड़ा दिया। इसके बाद उसने हम में से प्रत्येक के जीवन की कुछ भावी घटनायें भी बतलाईं।

यह सब हो चुकने के बाद उस विचित्र मनुष्य ने कहा—अब तुम अपने मन में अपने इच्छानुसार किसी भाषा का कोई शब्द या वाक्य ले लो। मैंने संस्कृत के एक लम्बे से वाक्य की कल्पना करली। वह व्यक्ति संस्कृत से सर्वथा अनभिज्ञ था। अब उसने कहा कि अपनी जेब में अभी जो काग़ज़ रखे हो, उसे निकाल लो। संस्कृत का वह वाक्य उसमें लिखा था। उसे उसने घंटा भर पहले लिख लिया था और यह भी लिख रक्खा था कि मैंने जो कुछ लिखा है, उसे दृढ़ करने के लिए यह आदमी स्वयं इस वाक्य को सोचेगा। वह बिलकुल ठीक निकला। इसके बाद हमारी मंडली के एक दूसरे व्यक्ति से भी जिसने मेरी ही तरह काग़ज़ की पीठ पर हस्ताक्षर करके जेब में रख छोड़ा था, उसने अपने मन में कोई शब्द या वाक्य लेने को कहा। उन सज्जन ने अरबी भाषा का एक वाक्य अपने मन में लिया था। वह वाक्य कुरान का था। कहने की आवश्यकता नहीं कि उस वाक्य को समझना भी उस व्यक्ति के लिए असम्भव था। किन्तु मेरे मित्र ने अपनी जेब से जब काग़ज़ का टुकड़ा निकाला तब उस पर मनः कल्पित वाक्य लिखा देख कर चकित होगये।

मेरी मण्डली में एक डाक्टर थे। उन्होंने चिकित्सा शास्त्र की एक जर्मन-पुस्तक का एक वाक्य सोच रक्खा था, जो कि जेब में रक्खे हुए काग़ज़ पर लिखा था। कई दिनों के बाद उस आदमी के पास में फिर गया। सोचा था कि शायद उस दिन मैं किसी भ्रम में डाल दिया गया था। इस बार मैंने अपने कुछ और मित्रों को साथ में ले लिया था, किन्तु फिर भी उस मनुष्य ने हम पर आश्चर्यजनक विजय प्राप्त की।

एक बार मैं भारत के हैदराबाद नामक नगर में था। वहाँ मैंने एक ब्राह्मण के सम्बन्ध में सुना कि वह न जाने कहाँ से बहुत सी चीज़ें पैदा कर देता है। ब्राह्मण वहाँ का एक प्रतिष्ठित व्यापारी था। उसके पास में गया और उसके गुण देखने की इच्छा प्रकट की। संयोगवश उस

दिन उस ब्राह्मण को ज्वर आ गया था। साधारण तौर से हिन्दू जनता का यह विश्वास है कि यदि कोई साधू किसी रोगी के शरीर का स्पर्श कर देता है तो उसकी सारी व्याधि नष्ट हो जाती है। इसलिए ब्राह्मण ने मुझसे प्रार्थना की कि कृपा करके मेरे मस्तक पर अपना हाथ रख दीजिए, जिससे कि मेरा ज्वर उतर जाय।

मैंने प्रसन्नतापूर्वक ब्राह्मण की प्रार्थना स्वीकार कर ली। इसके बदले में वह भी अपने गुण दिखलाने के लिए वचनबद्ध होगया। उसकी प्रार्थना के अनुसार जब मैं उसके शरीर का स्पर्श कर चुका तब वह भी अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए तत्पर होगया। वह कपड़े का एक लम्बा सा टुकड़ा पहने था। उस टुकड़े के अतिरिक्त और सारे वस्त्र उसने शरीर पर से उतार डाले। मेरे पास एक कम्बल था, वही उसे ओढ़ने को दे दिया। उस समय जाड़ा पड़ रहा था; अतएव मेरा कम्बल ओढ़ कर वह ब्राह्मण एक कोने में बैठ गया। पचीस जोड़ा आँखें अनिमेष दृष्टि से उसकी ओर ताक रही थीं।

ब्राह्मण ने कहा—देखिए, आप लोग जो जो वस्तुयें चाहते हों, एक कागज़ पर लिख दें। हम लोगों ने कुछ ऐसे फलों के नाम लिखे जो वहाँ नहीं होते। लिख कर सब लोगों ने अपने अपने पुर्ज़े ब्राह्मण को दिया। जिन जिन फलों के नाम हम लोगों ने लिखे थे, वे सभी फल उस कम्बल के नीचे से निकल आये। वह भी एक दो नहीं, बल्कि बहुत अधिक परिमाण में। ब्राह्मण ने उन फलों के खाने के लिए हम लोगों से अनुरोध किया। परन्तु कुछ लोगों ने इन्हें कृत्रिम समझ कर खाने में आपत्ति की। तब वह ब्राह्मण उन फलों को स्वयं खाने लगा। बाद को हम लोगों ने भी खाया। उन फलों के स्वाद में कोई अन्तर नहीं था।

सब से अंत में ब्राह्मण ने कम्बल के नीचे से निकाल कर थोड़े से गुलाब के फूल दिये। वे फूल बिलकुल ताज़े थे। पंखुड़ियों पर ओस को

बूँदें पड़ी थीं। एक भी पँखुड़ी न तो मुरझाई थी और न टूटी थी। फूल भी एक दो नहीं, बल्कि ढेर के ढेर थे।

मैंने ब्राह्मण की इन करामातों के सम्बन्ध में कुछ बातें जानने की इच्छा प्रकट की। परन्तु उसने कुछ बतलाया नहीं, इसे केवल हाथ की सफ़ाई कह कर टाल गया। ब्राह्मण की इस बात पर विश्वास करने के लिए मेरा हृदय गवाही नहीं देता था। भला केवल हाथ की सफ़ाई के बल पर इतनी अधिक मात्रा में तरह तरह के फल प्रस्तुत करना कहाँ तक सम्भव था ?

अस्तु मैंने इस तरह की बहुत सी आश्चर्यजनक बातें देखी हैं। भारत के भिन्न भिन्न स्थानों में इस तरह के कितने ही उदाहरण मिलेंगे। अन्य देशों में भी इस तरह की करामात जानने वालों का सर्वथा अभाव नहीं है। यहाँ अमरीका में भी ऐसे व्यक्ति उपलब्ध हो सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन बातों में बहुत कुछ भ्रममय हस्तकौशल रहता है। परन्तु जब आप इस तरह का हस्तकौशल देखते हैं, वहाँ आपको यह भी मानना पड़ेगा कि इस तरह की कृत्रिमता हस्त-कौशल—किसी न किसी वस्तु का अनुकरण होता है। जो कोई क्रिया अनुकरण के द्वारा निष्पन्न की जाती है, उसका कहीं सत्य रूप अवश्य होता है, अन्यथा आप किसी वस्तु का अनुकरण नहीं कर सकते। जो कुछ अनुकरण किया जाता है, वह वस्तुतः कुछ न कुछ सत्य होता है।

बहुत प्राचीन काल में, आज से हज़ारों वर्ष पहले भारतवर्ष में इस तरह की बातें आजकल की अपेक्षा कहीं अधिक मात्रा में पाई जाती थीं। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि जब किसी देश की बस्ती बहुत ही सघन हो जाती है तब वहाँ की आध्यात्मिक शक्ति का ह्रास हो जाता है। परन्तु जिस देश का विस्तार अधिक होता है और लोग बहुत दूर दूर पर निवास करते हैं, कदाचित् वहाँ के निवासियों में आध्यात्मिकता अधिक होती है। प्रत्येक बात का विश्लेषण करने का हिन्दुओं, विशेषतः प्राचीन

ऋषियों का स्वभाव था, अतएव इन विषयों का गम्भीर भाव से विचार करके उन लोगों ने अन्वेषण किया। इसके परिणाम-स्वरूप वे लोग बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों पर पहुँचे। उन सिद्धान्तों के ही आधार पर उन लोगों ने एक विज्ञान की रचना कर डाली। उन लोगों ने यह ज्ञात किया कि ये बातें असाधारण होने पर भी प्राकृतिक हैं। यहाँ कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो लौकिकता से परे हो। ये आश्चर्यजनक घटनायें भी ठीक उन नियमों के ही अधीन हैं, जिनकी अधीनता में हमारी प्रकृतिदेवी की गोद में तरह तरह के कौतुक-वर्द्धक व्यापार घटित होते हैं। यह सब प्रकृति का खेलवाड़ नहीं है, बल्कि इस तरह की करामात करने वाले मनुष्य एक प्रकार की अद्भुत शक्ति लेकर पैदा होते हैं। इस विज्ञान का नियमित रूप से अध्ययन करके इसे अभ्यस्त तथा स्वायत्त करना चाहिए। यह विज्ञान राजयोग के नाम से प्रसिद्ध है। भारत में हज़ारों व्यक्ति ऐसे हैं जो कि इस विद्या का अनुशीलन करते हैं और यों तो यह सारे राष्ट्र का प्रतिदिन की उपासना का विषय होगया है।

जिन महान् आत्माओं ने इस विषय की गवेषणा की है, उनका मत है कि ये असाधारण शक्तियाँ मनुष्य के मन में रहती हैं। यह मन विश्व-व्यापी मन का एक अंश है। हर एक व्यक्ति का मन दूसरे व्यक्ति के मन से सम्बद्ध है। इसके अतिरिक्त हर एक मन, वह चाहे कहीं भी अपना अड्डा जमाये हो, समस्त संसार के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के वास्तविक मार्ग में ही रहता है।

विचारों को स्थानान्तरित करने का भी व्यापार बहुत ही अद्भुत है। मान लीजिए कि एक आदमी यहाँ बैठा कुछ सोच रहा है। उसके वे विचार कहीं सुदूर स्थान पर बैठे हुए किसी अन्य व्यक्ति के समक्ष स्पष्ट रूप से पहुँचते हैं। इस तरह का व्यापार संयोगवश नहीं घटित होता, बल्कि इसके लिए तैयारी करनी पड़ती है। एक आदमी यहाँ बैठा है। वह अपने मनोभावों को कहीं सुदूर स्थान पर बैठे हुए किसी अन्य व्यक्ति

को बोधगम्य कराना चाहता है। उस अपेक्षित व्यक्ति का मन यह जान लेता है कि मेरे पास कुछ विचार आ रहे हैं और उन्हें वह ठीक उसी रूप में ग्रहण कर लेता है, जिस रूप में वह भेजे गए होते हैं। इसी के कारण उनके समझने में कोई अन्तर नहीं पड़ता। एक मनुष्य के मनोभाव उसके पास से चल कर दूसरे मनुष्य के पास पहुँच जाते हैं और उन्हें वह दूसरा मनुष्य ग्रहण कर लेता है। यदि मैं यहाँ हूँ और आप वहाँ हैं, साथ ही हम दोनों के मन भी एक दूसरे से बिल्कुल स्वतन्त्र हैं, इन दोनों मनों के बीच में कोई सम्बन्ध भी नहीं है, तब भला यह कैसे सम्भव है कि मेरे विचार आपके पास तक पहुँच जावेंगे? ध्यान रखने की बात है कि हमारे विचार बिल्कुल साधारण रूप से सीधे ही आपके पास नहीं पहुँच जाते। हमारे विचार मस्तिष्क से जब निकलते हैं तब अन्तरिक्ष के कम्पन में द्रवीभूत होकर मिल जाते हैं। अन्तरिक्ष के वे ही कम्पन आपके मस्तिष्क में पहुँचते हैं। और वे आपके विचारों में सम्मिलित हो जाते हैं। हमारे पास विचारों का द्रवीकरण होता है और आपके पास जाकर वे दृढ़ हो जाते हैं। विचारों के आदान-प्रदान का यह ढंग बड़े हेर-फेर का है। परन्तु बिजली के द्वारा समाचार भेजने में यह बात नहीं है। बिजली के तार तो एक आदमी की बातें सीधे दूसरे के पास पहुँचाते हैं।

उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि मन के सम्बन्ध में योगियों की युक्ति सर्वथा सत्य है। इसमें विच्छेद नहीं है। जो मन मेरे शरीर में है वही आपके शरीर में भी व्याप्त है। यह मन विश्वव्यापी है। मेरा तथा और लोगों के छोटे मोटे मन समुद्र की छोटी छोटी तरङ्गों के ही समान उस विश्वव्यापी मन के अंश हैं। मन की इस अविच्छिन्नता के ही कारण हम अपने विचार सीधे दूसरों के पास भेज सकते हैं।

आप देखते हैं कि हमारे आस-पास किस तरह की घटनायें हो रही हैं। यह संसार प्रभाव प्रवण है। हमारी शक्ति की ज़रा सा अंश अपने

शरीर की रक्षा करने में व्यय होता है। और उसके बाद जितनी भी शक्ति बच रहती है उसका प्रत्येक अणु रात-दिन प्रभाव डालने में ही व्यय होता रहता है। हमारे शरीर, हमारी शक्तियाँ, हमारी बुद्धि, और हमारी आध्यात्मिकता, ये सभी लगातार दूसरों पर प्रभाव डालती रहती हैं। इसके बदले में हम लोग भी दूसरों से प्रभावित होते रहते हैं। इस तरह का व्यापार हमारे चारों ओर घटित हो रहा है।

अब आप विशेष दृष्टान्त पर विचार कीजिए। मान लीजिए कि एक आदमी आपके पास आया। आप को मालूम है कि वह बड़ा विद्वान् है। भाषा भी बड़ी सुन्दर बोलता है। वह व्यक्ति घंटे भर तक आप से बातचीत करता है, परन्तु आप पर कोई संस्कार नहीं डाल पाता। इसके विपरीत एक दूसरा आदमी आकर आप से बहुत थोड़ी ही सी बातें करता है, वह भी बिल्कुल बेतरतीब के साथ और अशुद्ध भाषा में। परन्तु इतने पर भी वह आप पर बहुत गहरा संस्कार डाल कर जाता है। आप में से बहुतों ने इस तरह के उदाहरण देखे होंगे। इससे यह स्पष्ट है कि केवल शब्द ही नहीं सदा संस्कार उत्पन्न करने में समर्थ हुआ करते। शब्द, यहाँ तक कि विचार भी, संस्कार डालने में केवल एक तिहाई प्रभाव डाल पाते हैं, दो तिहाई प्रभाव तो मनुष्य ही डालता है। मनुष्य में जो व्यक्तिगत आकर्षण होता है, वही निकल कर आप पर संस्कार डालता है।

हमारे परिवारों में कितने ही गृहस्वामी हैं। उनमें से कुछ तो ऐसे हैं, जिनका कि सारे परिवार पर काफ़ी प्रभाव रहता है, किन्तु अधिकांश ऐसे हैं जो कि घर के बच्चों तक को अपनी इच्छा के अनुसार नहीं चला पाते। इसका क्या कारण है? मनुष्य का स्वभाव है कि अपनी असफलता का दोष वह दूसरों के ही मत्थे मढ़ने की कोशिश किया करता है। जिस समय हमसे कोई काम बिगड़ जाता है या हमारा कोई प्रयत्न निष्फल सिद्ध होता है, उस समय अपनी असमर्थता न व्यक्त करके हम तरह तरह की बातें बनाने और अपने को निर्दोष प्रमाणित करने का प्रयत्न करने

लगते हैं। असफल होने पर कोई भी व्यक्ति अपना दोष या असमर्थता स्वीकार करने पर सहमत नहीं होता। यही कारण है कि वह सारा दोष दूसरों के मत्थे मढ़ने की चेष्टा किया करता है। यदि कहीं ऐसा न कर सका तो भाग्य को ही दोहाई देने लगता है। जब गृहस्थ अपनी घर-गृहस्थी का समुचित प्रबन्ध न कर पावें तो उन्हें अपने अन्तःकरण में इस बात पर विचार करना चाहिए कि जहाँ दूसरे लोग अपनी गृहस्थी खूब मज़े में चला लेते हैं, वहाँ मैं क्यों नहीं चला पाता ? इस तरह विचार करने पर ज्ञात होगा कि यह अन्तर मनुष्य की तत्परता और व्यक्तित्व के कारण हुआ करता है।

बड़े बड़े लोक-नेताओं को ही ले लीजिए। हम सदा ही देखते हैं कि मनुष्य का व्यक्तित्व ही दूसरों पर प्रभाव डालने में समर्थ हो पाता है। प्राचीन काल के बड़े बड़े ग्रन्थ-कर्त्ताओं तथा सिद्धान्त-निर्देशकों को ही देखिए, सच पूछा जाय तो उन महानुभावों ने अपने अपने मस्तिष्क से कितने विचार उत्पन्न किये थे। गत युगों के लोकनेता कितनी ग्रन्थ-राशि हमारे लिए छोड़ गये हैं! उनमें से एक एक ग्रन्थ ले लीजिए और हर एक का मूल्य आँकिए। इस संसार में यथार्थ रूप से आज तक जितने भी विचार व्यक्त किये गये हैं, उनमें से अभिनव और विशुद्ध बहुत थोड़े से हैं। वे लोग हमारे लिए जो विचार छोड़ गये हैं, उन्हें उनके ग्रन्थों में पढ़िए। वे ग्रन्थ-कर्त्ता हमें महापुरुष से नहीं प्रतीत होते, परन्तु फिर भी हम यह जानते हैं कि अपने युग में वे लोग महापुरुष थे।

उनमें महापुरुषता का आविर्भाव किस कारण हुआ था ? उन्होंने अपने मस्तिष्क से जो विचार उत्पन्न किये थे, न तो उनकी बदौलत उनमें वह गौरव आया था और न वे अपने ग्रन्थों के ही कारण इस प्रकार गौरवान्वित हो पाये थे। व्याख्यानों के बल पर भी उन्हें महत्ता नहीं मिली थी। उनकी महत्ता का तो एक और ही कारण था, जो उनके विचारों से परिचित होने पर भी हमारे दृष्टिगोचर नहीं होता। वह कारण

था उनका व्यक्तित्व। जैसा कि हम कह चुके हैं, मनुष्य का व्यक्तित्व उसका दो तिहाई भाग है और उसकी बुद्धि तथा शब्द समूह-एक तिहाई। वास्तविक मनुष्य व्यक्तित्व ही है। हमारी चेष्टायें फलाफल से रहित हैं। मनुष्य के वर्तमान रहने पर चेष्टायें तो होती ही रहेंगी किन्तु फलाफल के लिए हेतु का होना अनिवार्य्य है।

हर एक विषय का ज्ञान प्राप्त करने, हर प्रकार की शिक्षा ग्रहण करने का उद्देश्य मनुष्य के व्यक्तित्व का ही निर्माण करना है। वास्तव में शिक्षा का यही आदर्श होना चाहिए। परन्तु आदर्श की ओर दृष्टिपात न करके हम लोग केवल बाहरी ठाट बनाने में ही सदा व्यग्र रहा करते हैं। यदि हममें कुछ तत्त्व नहीं है तो ऊपर की ही चिकनाहट ठाट-बाट भला हमारा क्या काम देसकते हैं! शिक्षा की उपयोगिता तथा उसका उद्देश्य मनुष्य को उन्नत बनाना है। वह मनुष्य, जो कि अपने समीपवर्त्ती प्राणियों को प्रभावित करता है और उन पर अपनी ऐन्द्रजालिक शक्ति का प्रयोग करता है, बिजली का डाइनमो है और वह मनुष्य जब तैयार हो जाता है, तब उसके मन में जो बात आ जाती है, उसे वह करके ही रहता है। जहाँ कहीं भी उसका व्यक्तित्व पड़ जायगा, अपना प्रभाव डाले बिना न रहेगा।

अब हम देखते हैं कि यद्यपि उपर्युक्त बात बिल्कुल ही सत्य है, हम जितने भी भौतिक नियम जानते हैं, वे इस बात को स्पष्ट न कर सकेंगे। रासायनिक या भौतिक विज्ञान की सहायता से इसे हम किस तरह स्पष्ट कर सकते हैं? आक्सिजन, हाइड्रोजन, कार्बन, अणु, परमाणु तथा कोष आदि का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके भी रहस्यमय व्यक्तित्व के विषय को समझने में असफल सिद्ध होते हैं। यद्यपि यह बात बिल्कुल यथार्थ है। व्यक्तित्व के अस्तित्व को तो कोई अस्वीकार ही नहीं कर सकता। वरन् व्यक्तित्व ही वास्तविक मनुष्य है। यह वह मनुष्य है जो कि चलता फिरता है, काम-काज करता है और अपने समीपवर्ती प्राणियों पर अपना प्रभाव

डालता है, अन्त में वह चला जाता है। उसकी बुद्धि, पुस्तकें तथा अन्यान्य कार्य्य-कलाप तो उसके चिह्न भर हैं, जो उसके बाद पड़े रह जाते हैं। इन बातों पर विचार कीजिए। बड़े बड़े दार्शनिकों की तुलना कीजिए। दार्शनिक लोग शायद ही किसी की अन्तरात्मा पर अपना प्रभाव डाल सके हैं। फिर भी वे लोग कितनी ही अमूल्य पुस्तकें लिख गये हैं। इसके विरुद्ध धार्मिक उपदेशकों ने अपने जीवन-काल में सारे देश को हिला दिया था। दार्शनिक तथा धर्मोपदेशक में यह अन्तर व्यक्तित्व के ही कारण हुआ करता है।

दार्शनिक का व्यक्तित्व बहुत ही लघु होता है और धर्मोपदेशक का व्यक्तित्व बहुत ही गौरवशाली। दार्शनिक में जहाँ हम बुद्धि का संस्पर्श पाते हैं, वहाँ धर्मोपदेशक में जीवन का। जहाँ एक के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यह साधारण तौर से एक रासायनिक क्रिया है, जो कुछ रासायनिक तत्वों का इस तरह सम्मिश्रण कर देती है कि वे अनुकूल परिस्थिति पाकर एक प्रकाश-पुञ्ज उत्पन्न कर देते हैं, अन्यथा नष्ट होजाते हैं, इसके विरुद्ध दूसरा मानो मशाल है जो कि शीघ्र ही चारों ओर फैल जाता है और दूसरों को प्रकाशमान कर देता है।

योग-शास्त्र का दावा है कि इसने ऐसे नियम निकाल रक्खे हैं, जो कि इस व्यक्तित्व को उन्नत बनाते हैं। यदि उसके नियमों तथा उसके द्वारा निर्दिष्ट की गई विधियों पर समुचित रूप से ध्यान देता रहे तो कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को उन्नत और सबल बना सकता है। व्यावहारिक दृष्टि से जितने भी विषय महत्व के हैं, उनमें योग-शास्त्र का ख़ास स्थान है। यही सारी शिक्षा का रहस्य है। इसकी उपयोगिता समस्त विश्व में है। हर एक गृहस्थ, क्या धनी, क्या निर्धन, क्या व्यापारी और क्या आध्यात्मिक, मनुष्यमात्र के जीवन में इस व्यक्तित्व को सबल बनाना बहुत बड़ी बात समझी गई है। इस विषय में बहुत से नियम हैं। वे नियम बहुत ही सूक्ष्म हैं।

हमें जितने भी भौतिक नियम ज्ञात हैं, उनसे जैसा कि हमें ज्ञात है, ये परे हैं। बात यह है कि भौतिक संसार, मानसिक संसार तथा आध्यात्मिक संसार में आदि सत्तायें पृथक् नहीं हैं। यहाँ जो कुछ है, वह एक है। इसे तो हमें यों कहना चाहिए कि यह एक प्रकार की क्रमशः सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने वाली सत्ता है। उसका सब से स्थूल भाग हमारे समक्ष है, वही क्रमशः सूक्ष्म होता है। अन्त में जाकर उसका जो सब से सूक्ष्म अंश हो जाता है, जिससे अधिक सूक्ष्म होने की गुंजाइश नहीं रहती, उसी को हम प्राण कहते हैं। उसी का सब से स्थूल भाग शरीर कहलाता है। जिस तरह यहाँ यह सूक्ष्म जगत् में है, ठीक उसी रूप में त्रिभुवन में भी है। ठीक यही बात हमारे विश्व के सम्बन्ध में भी है। यह विश्व, जो हमारे चारों ओर परिव्यास है, यह इसका बाह्य सब से स्थूल अंश है। यही क्रमशः सूक्ष्म होते होते उस अवस्था में पहुँच जाता है, जब कि यह ब्रह्म—ईश्वर—हो जाता है।

हमें यह भी ज्ञात है कि सब से महान् शक्ति सूक्ष्म में ही निहित है, स्थूल में नहीं। कोई आदमी जब भारी बोझा ढोता रहता है तब हम देखते हैं कि उसकी माँस-पेशियाँ फूल आती हैं और उसके सारे शरीर में श्रम के चिह्न परिलक्षित होते हैं। इससे हमें जानना पड़ता है कि मनुष्य के शरीर में माँसपेशियाँ सबल होती हैं। परन्तु वास्तव में शरीर में जो तंतु के समान पतली-पतली शिरायें होती हैं, वे ही इन माँसपेशियों में बल पहुँचाती हैं। इन माँसपेशियों तक पहुँचने से पहले ही यदि कोई शिरा कट जाती है तब उनमें कार्य करने की क्षमता बिल्कुल नहीं रह जाती। ये नन्हीं नन्हीं शिरायें भी ऐसी वस्तुओं से शक्ति प्राप्त करती हैं, जो उनसे भी अधिक सूक्ष्म होती हैं। वह वस्तुयें अपने से भी सूक्ष्म अर्थात् इच्छा शक्ति से बल प्राप्त करती हैं। यह क्रम बराबर चालू रहता है। अस्तु

वास्तव में शक्ति का स्थान वही है, जो सूक्ष्म है। इसमें सन्देह नहीं कि हमें व्यापार उसी वस्तु में दृष्टिगोचर होते हैं, जो स्थूल होती है, परन्तु

जब सूक्ष्म व्यापार होते रहते हैं तब उन पर हमारी दृष्टि ही नहीं पहुँचती। जब किसी स्थूल वस्तु में कम्पन होता है और वह किसी प्रकार का व्यापार करने के लिए उद्यत होती है, तब उसे हम फौरन ही ताड़ जाते हैं, इससे हम स्थूल वस्तुओं की क्रिया-शीलता को स्वभावतः पहचान सकते हैं। परन्तु वास्तव में जितनी भी शक्तियाँ हैं, वे सब सूक्ष्म ही हैं। सूक्ष्म में जितने भी व्यापार होते हैं, उन्हें हम देख नहीं पाते। कदाचित् इसका यही कारण है कि वे व्यापार इतनी तीव्र गति से होते रहते हैं कि उन पर हमारी दृष्टि ही नहीं जम पाती।

यदि किसी भी विज्ञान से, किसी भी खोज से हमें उन सूक्ष्मतर शक्तियों का अपने अधिकार में करने की सहायता मिल जाय, जिनके द्वारा कि हमें चेष्टा का बोध होता है, तो बोध स्वयं हमारे अधिकार में आजायगा। किसी काल में, उसकी सब से नीचे की तह से जब पानी का एक छोटा सा बुलबुला उठता है, तो उसका उठना आरम्भ से ही हमारी दृष्टि पर नहीं पड़ता। उसे हम तभी देख पाते हैं, जब वह बिलकुल ऊपर की तह पर आजाता है। ठीक इसी तरह विचार भी जब खूब दृढ़ हो जाते हैं या कार्य्यरूप में परिणत हो जाते हैं, तब वे हमारे दृष्टिगोचर होते हैं। हमें लगातार यह शिकायत बनी रहती है कि हमारे कार्य्यों पर हमारा अधिकार नहीं है। ठीक इसी तरह की शिकायत विचारों के सम्बन्ध में भी है। परन्तु उन पर हम अधिकार किस तरह प्राप्त कर सकते हैं? सूक्ष्म व्यापार तो तभी हमारे वशवर्ती हो सकेंगे जब कि हम अपने विचारों को आरम्भ में ही अपने अधीन कर लें। तभी सारी वस्तुओं को अपनी अधीनता में करना हमारे लिए सम्भव होगा।

मन को अपने अधीन करना कोई साधारण काम नहीं है। यदि कोई भी ऐसी रीति हो जिसके द्वारा हम इन सूक्ष्मतर शक्तियों का, इन सूक्ष्मतर कारणों का, विश्लेषण करके इनका अनुसन्धान एवं परिज्ञान कर सकें, साथ ही इनके साथ अन्तिम द्वन्द्व कर लें, केवल तभी हमारे लिए अपने आप

पर अधिकार प्राप्त करना सम्भव होगा। जिस व्यक्ति का अपने आप पर—अपने मन पर—अधिकार है, वह निस्सन्देह हर एक व्यक्ति के मन को अपने आधीन कर सकेगा। यही कारण है कि पवित्रता और सदाचार सदा ही धर्म का विषय रहा है। निष्पाप और सदाचारी व्यक्ति अपने मन को अपने आधीन कर रखता है। सभी मन एक है, एक ही मन के विभिन्न अंग हैं। जो व्यक्ति मिट्टी के एक लोंदे से सर्वथा परिचित है वह समस्त विश्व की मिट्टी के ढेरों से परिचित हो चुका। जो व्यक्ति अपने मन की अवस्था समझता है, जिसका अपने मन पर अधिकार है, वह हर एक मन के रहस्य को समझता है और हर एक मन पर उसका ज़ोर रहता है

यदि हम शरीर के इन सूक्ष्म भागों को अपने अधिकार में रख सकें तो हम कितने ही शारीरिक क्लेशों से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। शरीर के इन सूक्ष्म व्यापारों पर अधिकार प्राप्त करके हम कितनी ही चिन्ताओं से छुटकारा ले सकते हैं। इन सूक्ष्म शक्तियों को अपनी अधीनता में करके हम कितनी ही असफलताओं को रोक सकते हैं। यहाँ तक इसकी उपयोगिता है। इसके अतिरिक्त भी इसका कुछ अधिक महत्व है।

यहां मैं एक सिद्धान्त का उल्लेख करता हूँ। उसके सम्बन्ध में इस समय तर्क-वितर्क न करूंगा, केवल इसका उपसंहार भर आपके समक्ष उपस्थित करूँगा। हर एक मनुष्य बाल्यकाल में उन दशाओं में होकर ही वृद्धि को प्राप्त होता है, जिनमें होकर उसके वंश के और लोग बढ़े हैं। जहां उस वंश के पूर्व पुरुषों को उन अवस्थाओं के प्राप्त करने में हजारों वर्ष लगे हैं, वहां बच्चा केवल कुछ वर्षों में ही उन अवस्थाओं में उपनीत हो जाता है। पहले पहल बच्चा प्राचीन-काल के असभ्य मनुष्य की तरह रहता है और वह अपने पैरों के तले तितलियों को रौंदता फिरता है। छुटपन में वह प्रारम्भिक युग के अपने वंश के पूर्व पुरुषों के बिल्कुल अनुरूप होता है। जैसे जैसे वह बढ़ता है, भिन्न-भिन्न

अवस्थाओं को पार करता जाता है। जब तक कि वह उस उन्नत अवस्था को नहीं पहुँच जाता, जिसे उसके वंश के लोगों ने उपलब्ध किया है; देखते ही देखते वह उस सीमा को पहुँच जाता है।

अब सारे मानव-समाज को एक वंश मान लीजिये। या छोटे छोटे कीड़ों-मकोड़ों से आरम्भ करके मनुष्य तक समस्त प्राणियों को एक करके विचार कीजिये। सृष्टि का एक अन्त है जिसकी ओर समस्त जीव अग्रसर हो रहे हैं। उस अन्त को यदि हम पूर्णता कहें, तो अनुचित न होगा। कुछ पुरुष और स्त्री ऐसे भी उत्पन्न हुए हैं, जो कि मानव जाति की समस्त उन्नति हस्तगत करने की आरम्भ ही से कल्पना करते हैं। जब तक सारे मनुष्य उस पूर्णता तक नहीं पहुँच जाते तब तक बार बार जन्म मरण के चक्कर में पड़े रह कर प्रतीक्षा न कर के वे अपने जीवन के थोड़े से वर्षों में ही उस पूर्णता की ओर अग्रसर होते हैं। यदि हम अपने आपके प्रति सत्य का व्यवहार करने लगें, तो उस क्रमिक गति में अधिक वेग उत्पन्न कर सकते हैं। यह बात हमें ज्ञात है। यदि थोड़े से आदमी जिनमें किसी प्रकार की शिक्षा-दीक्षा या उन्नति की प्रवृत्ति न हो, एक द्वीप में रहने के लिए छोड़ दिये जायँ और उन्हें भोजन, वस्त्र तथा रहने का स्थान भर दे दिया जाय, तब सभ्यता के उच्च से उच्च स्तरों को प्रकाशमान करते हुए क्रमशः वे उन्नति करते जायेंगे।

हमें यह भी ज्ञात है कि कुछ विशेष उपायों का अवलम्बन करके हम उन्नति की इस गति में अधिक वेग ला सकते हैं। हम उत्तम खाद और अधिक नमी पहुँचा कर पेड़ पौधों को प्राकृतिक ढंग से बढ़ने वाले पेड़-पौधों की अपेक्षा अधिक शीघ्र तैयार कर लेते हैं, हम कृत्रिम उपायों का अवलम्बन करके कितनी ही ऐसी वस्तुएँ बहुत शीघ्रता से तैयार कर लिया करते हैं जिन्हें कि यदि प्रकृति के ही भरोसे पर छोड़ देते, तो वे अब की अपेक्षा कहीं अधिक समय लेतीं। यदि यह बात है तो समुचित प्रयत्न करने पर भला मनुष्य की ही उन्नति में शीघ्रता क्यों

न हो सकेगी। मानवजाति की उन्नति हम जातीय ढंग पर ही शीघ्रता से कर सकते हैं! एक देश के शिक्षक दूसरे देश में क्यों भेजे जाते हैं? इसलिए कि वे अपने सद्गुणों का प्रभाव पिछड़ी हुई जाति पर डाल सकें। उन्नत जाति के लोगों का संसर्ग पाकर अवनत जाति के लोगों में स्फूर्ति आ जाती है और वे उन्नति के पथ पर द्रुततर वेग से अग्रसर होने लगते हैं।

यह तो हुई जातीय उन्नति की बात। अब प्रश्न यह उदय होता है कि क्या उपर्युक्त ढंग से व्यक्तिगत उन्नति में भी शीघ्रता लाई जा सकती है। निस्सन्देह लाई जा सकती है। परन्तु इस शीघ्रता की हम कोई मर्य्यादा नहीं बाँध सकते। अपने पास यह कहने के लिए कोई भी कारण नहीं है कि अमुक प्रकार का व्यक्ति अमुक मात्रा में ही उन्नति कर सकता है। उससे परे उसकी गति नहीं है, अनुकूल परिस्थित पाकर वह उतनी अधिक उन्नति कर सकता है जिसे देखकर लोग चकित हो जाते हैं। तब क्या कोई ऐसी मर्य्यादा हो सकती है कि वहाँ तक पहुँच कर ही हम पूर्णता प्राप्त कर सकते हैं? यदि यह बात है तो पूर्णता को प्राप्त कर लेने का फल ही क्या है? बात यह है कि पूर्ण व्यक्ति जिस जाति में उत्पन्न होते हैं वे उस जाति के वर्तमान युग के साधारण व्यक्तियों के समान कदाचित् लाखों वर्ष पहले रहे हैं और योगी लोग यह कहा करते हैं कि जितने भी बड़े अवतार और सिद्ध पुरुष हुए हैं वे ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने इस एक जन्म में ही समस्त पूर्णता प्राप्त की है। संसार के इतिहास से ज्ञात होता है कि हर एक देश और हर एक समय में इस तरह की महान आत्माओं का आविर्भाव होता रहता है। अभी बहुत थोड़े ही दिन पहले एक महान व्यक्ति अवतीर्ण हुआ था जिसने मानव-जीवन की सभी अवस्थाओं का उपभोग करके अन्त में मोक्ष प्राप्त किया था। उसने यह सारी उन्नति एक जन्म में ही की थी। परन्तु उस तरह शीघ्रता पूर्वक उन्नति भी नियमानुसार ही होनी चाहिए। मान लीजिये कि जिन नियमों का अनुसरण करके हम उन्नति कर पाते हैं, उनके अनुसन्धान करने

तथा उनके रहस्य को समझने में हम समर्थ हैं और अपनी आवश्यकताओं के अनुसार हम उनका उपयोग भी कर सकते हैं। हम बड़ी शीघ्रता पूर्वक अपनी उन्नति करते हैं, बड़ी शीघ्रता पूर्वक अपना विकास करते हैं और इस जन्म में भी पूर्ण सिद्ध बन जाते हैं। हमारे जीवन का यह अधिक महत्व का कार्य है। जिस शास्त्र के द्वारा हम मन और उसकी शक्तियों का अध्ययन कर सकते हैं, उसका वास्तविक अन्त इस पूर्णता—इस सिद्धि—में ही है। रूप में पैसे या किसी वस्तु के द्वारा दूसरों की सहायता कर देना या स्वच्छन्दता पूर्वक जीवन व्यतीत करने का उपाय बतलाना तो प्रपंच मात्र है।

शास्त्र की उपयोगिता तो इसी बात में है कि वह मनुष्य को सिद्ध बनावे, उसे युग-युगान्तर तक प्रतीक्षा न करने दे। इस शास्त्र का कर्त्तव्य मनुष्य को भौतिक संसार के हाथ का खिलौना बना रखना या समुद्र में हवा से उड़ा कर लाई हुई लकड़ी के समान एक तरंग से दूसरी तरंग में ले जाना या अनन्त जलराशि आन्दोलित करना नहीं है। यह शास्त्र चाहता है कि आप बलवान बनें और अपने कार्य्य प्रकृति के भरोसे पर न छोड़ रख कर अपने हाथ में लें और इस तुच्छ जीवन से आगे बढ़ें। यही उदात्त विचार है।

क्या ज्ञान, क्या शक्ति और क्या सुख, मनुष्य सभी में उन्नति कर रहा है। एक जाति के रूप में हम अविराम गति से बढ़ते जा रहे हैं। हम देख रहे हैं कि यह बात सच है, बिल्कुल सच है। परन्तु क्या व्यक्तियों के सम्बन्ध में भी यह सच है! कुछ मात्रा में यह निस्सन्देह सच है। परन्तु फिर भी यह प्रश्न उदय हुए बिना नहीं रहता कि आप मर्य्यादा कहाँ पर नियत करते हैं।

मैं केवल कई फुट की दूरी तक देख सकता हूँ। परन्तु मैं ने एक ऐसे भी व्यक्ति को देखा है, जो कि आँखें मूँद कर दूसरे कमरे की घटनाओं को देखता रहता है। यदि आप यह कहें कि मैं इस बात पर विश्वास नहीं

करता तो शायद वह व्यक्ति आप में भी वैसा करने की शक्ति तीन सप्ताह में उत्पन्न कर दे। ऐसा करने का उपाय किसी भी व्यक्ति को सिखाया जा सकता है। कुछ तो ऐसे भी प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति मिलेंगे जिन्हें केवल पाँच मिनट में ही दूसरों के मन का भाव परखने का ज्ञान कराया जा सकता है। वे सब बातें प्रमाणित की जा सकती हैं।

अब यदि ये बातें सच हैं तो हम मर्यादा कहाँ स्थापित कर सकते हैं। यदि मनुष्य में यह समझने की शक्ति आजाय कि इस कमरे के कोने में बैठे हुए मनुष्य के मन का भाव क्या है तो दूसरे कमरे में बैठे हुए मनुष्य का मनोभाव वह क्यों न जान सकेगा ? या कहीं के भी मनुष्य का मनोभाव जानने में उसे बाधा कैसे हो सकेगी ? हम केवल इतना भर कह सकते हैं कि हमें इन व्यापारों के घटित होने का कारण नहीं ज्ञात है। भौतिक विज्ञान के वेत्ताओं को यह कहने का अधिकार नहीं है कि इस तरह के व्यापार सम्भव नहीं हैं। वे इतना ही कहने के अधिकारी हैं कि इसे हम नहीं जानते। विज्ञान का कर्तव्य है प्रमाणों का संग्रह करके उनका निरूपण करना तथा तर्कों द्वारा सिद्धान्त स्थिर करके सत्य का प्रतिपादन करना। इसी में विज्ञान की उपयोगिता है, परन्तु यदि हम प्रमाणों को अस्वीकार करते जायेंगे तो विज्ञान ही कैसे निष्पन्न हो सकेगा।

मनुष्य कितनी शक्ति उपलब्ध कर सकता है इसकी इयत्ता नहीं है। भारत-वासियों में यह विशेषता है कि जो विषय उनके मन को रुचिकर होता है उसी में वे अत्यधिक आसक्त हो जाते हैं, दूसरे विषयों की परवाह उन्हें नहीं रह जाती। आप लोग इस बात से अनभिज्ञ नहीं हैं कि भारतवर्ष में कितने विज्ञानों का प्रादुर्भाव हुआ है, गणित की उत्पत्ति भारतवर्ष ही में हुई है। आप लोग भी संस्कृत के अंक के ही अनुसार एक दो तीन आदि शून्य तक गिना करते हैं। भारत में ही बीजगणित की भी उत्पत्ति हुई थी और मध्याकर्षण का नियम भारतवासियों को न्यूटन के जन्म से हजार वर्ष पहले ज्ञात था। भारतीय इतिहास में कोई ऐसा भी युग

था जब कि मनुष्य तथा उसके मन के विषय ने ही जनता की रुचि को सर्वदा तल्लीन कर लिया था। इसी विषय की ही विवेचना में भारतीय जनता उत्कंठित भाव से प्रयत्नशील थी। यह विषय इतना मनोमुग्धकारी हो गया कि लोग इसी को मानव-जीवन की सार्थकता का सबसे सरल-उपाय समझने लगे। अब हिन्दू-समाज की विचार-धारा में यह प्रवृत्ति पूर्ण रूप से आ गई कि समुचित रूप से लगाने पर मन सभी कुछ कर सकता है। संसार में इसके लिए कुछ भी असाध्य नहीं है। यही कारण है कि इसकी शक्तियों का अध्ययन करने में जनता दत्त-चित्त हो गई। मंत्रयोग तथा वशीकरण आदि तरह तरह की क्रियायें जन-साधारण में प्रचलित हो गईं और नियमित रूप से इन सब विषयों की शिक्षा दी जाने लगी।

अब इन विषयों की शिक्षा ने ही प्राचीन काल की भौतिक विज्ञान की शिक्षा का स्थान अधिकृत कर लिया। इन विषयों के प्रति हिन्दू जनता का विश्वास दृढ़मूल हो जाने के फलस्वरूप भौतिक विज्ञान का प्रायः अन्त हो गया। भिन्न भिन्न समुदाय के योगी तरह तरह के प्रयोग करने लगे। कुछ लोग प्रकाश के सम्बन्ध में, कुछ लोग शब्द के सम्बन्ध में और कुछ गन्ध के सम्बन्ध में प्रयोग करने लगे। जो लोग प्रकाश के सम्बन्ध में प्रयोग कर रहे थे उनका उद्देश इस विषय का ज्ञान प्राप्त करना था कि भिन्न भिन्न प्रकार के रोगों की प्रकाश-किरणें शरीर में किस प्रकार का परिवर्तन उत्पन्न करती हैं। वे लोग एक निर्दिष्ट रंग के कपड़े पहनते थे, एक निर्दिष्ट रंग के नीचे रहते थे और निर्दिष्ट रंग के ही अन्न खाते थे। इस तरह की लगन से ही हर तरह के प्रयोग किये जाते थे। वे लोग शब्द का प्रयोग करते थे। वे कभी कानों को बन्द कर रखते और कभी खोल रखते। इस तरह के और भी कितने ही प्रयत्न किये जाते थे।

ये सारी कल्पनायें केवल इस आधार पर पहुँचने के लिये ही की गई थीं कि किसी तरह हम पदार्थों के सूक्ष्म भागों को उपलब्ध कर लें। उपर्युक्त प्रयोग करने वालों में से कितने ही लोग सचमुच बड़ी अद्भुत करामात

दिखलाते थे। ऐसे भी बहुत से लोग थे, जो कि हवा के ऊपर तैरने और उसके उस पार जाने का प्रयत्न कर रहे थे। इस सम्बन्ध में मैं आपको एक कहानी सुनाऊँगा। यह कहानी मैंने योरप के एक विद्वान से सुनी थी, उसने भी लंका के एक गवर्नर से सुनी थी। यह कहानी नहीं, बल्कि उस गवर्नर की आँखों देखी घटना है। एक बार एक लड़की को लेकर एक बाजीगर आया। उसने गुणा के चिन्ह के आकार में गोड़े लगे हुए एक लकड़ी के स्टूल पर लड़की को बैठाया। लड़की पलथी मार कर बैठ गई। उसी तरह वह थोड़ी ही देर तक शान्ति पूर्वक बैठी रही। बाद को बाजीगर ने एक एक करके सारे गोड़े हटा दिये। लड़की हवा में तैरती रह गई। गवर्नर ने सोचा कि शायद इसमें कोई चाल हो। इसलिये उसने तलवार खींच कर जोर से लड़की के नीचे मारा। लड़की जिस शून्य स्थान पर बैठी थी, उसके नीचे से ही तलवार निकल गई। लड़की ज्यों की त्यों बैठी रही जिससे गवर्नर को विश्वास हो गया कि लड़की किसी वस्तु के आधार पर नहीं, वरन् अन्तरिक्ष में ही अवस्थित है।

ज़रा इस करामात पर विचार कीजिये। यह न तो इन्द्रजाल था और न कोई अनहोनी बात थी। अपने एक विशेष गुण के कारण लड़की ऐसा कर सकी थी। भारत में एक भी ऐसा व्यक्ति न मिलेगा जो कह सके कि इस तरह की बातें नहीं होतीं। हिन्दू जाति के लिए इस तरह की बात एक असम्भव घटना नहीं है। योग शास्त्र पर हिन्दुओं का अटल विश्वास है; उनकी दृष्टि में न तो सेना में इतना बल है और न अस्त्र शस्त्र ही इतने महत्व के हैं। सारा बल आत्मा में ही हुआ करता है।

यदि यह बात सच है तो मन को अपनी समस्त शक्ति का प्रयोग करके प्रयत्न करने के लिये काफ़ी प्रलोभन है। परन्तु अन्य शास्त्रों के समान इस शास्त्र में भी अधिक सफलता प्राप्त करना असम्भव काम नहीं है, प्रत्युत अन्य शास्त्रों की अपेक्षा कठिन है। फिर भी अधिकांश लोगों की धारणा है कि ये शक्तियाँ सरलता से ही उपलब्ध की जा

सकती हैं। किसी प्रकार की सम्पत्ति उपार्जित करने में कितने वर्ष लग जाते हैं ? इंजीनियरी में केवल विद्युत विज्ञान का अध्ययन करने में पहले कितने वर्ष लगते थे। तब उसका ज्ञान प्राप्त करके उसकी सहायता से मनुष्य आजन्म लाभ पाता है।

अधिकांश विज्ञान और शास्त्र ऐसी वस्तुओं का विवेचन किया करते हैं, जो प्रगतिशील नहीं हैं, अचल हैं। आप कुर्सी का विश्लेषण कर सकते हैं। कुर्सी आप के पास से कहीं उड़ कर नहीं जा सकती। परन्तु यहाँ हम जिस शास्त्र का उल्लेख कर रहे हैं उसका सम्बन्ध मन से है जो कि सदा ही चंचल रहा करता है। जिस समय आप उसका अध्ययन करने के लिए प्रयत्न-शील होते हैं, वह झट दूसरे विषय की ओर दौड़ जाता है। उस समय मन की अवस्था और है, तो सम्भवतः क्षण भर में और हो जायेगी। यह हमारी मनोवृत्तियाँ निरंतर बदलती रहती हैं। मन की प्रवृत्तियों में निरन्तर इस तरह के परिवर्तन होते रहने पर भी हमें उसका अध्ययन करके उसको सुलझा कर एकाग्र करके अपने अधीन करना पड़ता है। ऐसी अवस्था में यह विज्ञान—यह शास्त्र—कितना श्रम-साध्य है। इसमें तो मनुष्य तभी पूर्ण अभिज्ञता प्राप्त कर सकता है, जब बहुत ही दत्त चित्त होकर इसकी शिक्षा ग्रहण करे।

कितने ही लोग मुझसे पूछते हैं कि आप मुझे व्यावहारिक शिक्षा क्यों नहीं देते ? परन्तु विषय का ज्ञान प्राप्त करना कोई हँसी खेल की बात तो है नहीं। यहाँ मैं इस मंच पर खड़ा होकर बोल रहा हूँ। व्याख्यान समाप्त हो जाने पर आप लोग अपने अपने घर चले जायेंगे, न तो आपको कोई लाभ होगा और न मुझे। तब आप समझेंगे कि मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह सब प्रलाप है, परन्तु यह प्रलाप इस लिए है कि इसे आप प्रलाप बनाना चाहते हैं। इस शास्त्र का मुझे बहुत थोड़ा सा ज्ञान है। इस थोड़े से ज्ञान के ही लिये मुझे अपने जीवन के छत्तीस वर्ष व्यतीत करने पड़े थे। इतने सुदीर्घ काल तक मुझे कितना कठोर परिश्रम

करना पड़ा था। कभी कभी तो मुझे रात-दिन के बीच में लगातार बीस बीस घंटे अभ्यास करना पड़ा था। कभी कभी रात दिन के बीच में एक घंटा भी कठिनता से सोना पड़ा था और कभी कभी सारी रात आँख तक बन्द करने का अवसर नहीं मिला था। मुझे ऐसे भी स्थानों में रहना पड़ा था, जहाँ शायद ही किसी तरह का शब्द पहुँच सका होगा, शायद ही ज़रा सी हवा पहुँच सकी हो। कभी कभी कन्दराओं में ही पड़ा रहना पड़ा है। ज़रा सोचिये तो सही, कि कितने प्रयत्न से यह ज़रा सा ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ है। इसी का मैं लगातार छः वर्ष से प्रचार कर रहा हूँ। परन्तु यह बात ज़रूर है कि इस विषय में मुझे जो कुछ ज्ञान है भी वह नहीं के समान है। अभी मैं इस शास्त्र रूपी वस्त्र का किनारा भर पकड़ पाया हूँ तोभी मेरी समझ में यह आ गया है कि यह सत्य है, अनन्त है और अद्भुत है।

आप लोगों में से यदि कोई ऐसा भी व्यक्ति है जो सचमुच इस शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने के लिये इच्छुक है तो उसे इस तरह का संकल्प करके बल्कि उससे भी अधिक हठ-प्रतिज्ञ होकर इस दिशा में प्रवृत्त होना चाहिये मानो वह ऐहलौकिक जीवन के लिये कोई व्यापार करने जा रहा है।

व्यापार की ओर कितना अधिक चित्त लगाना पड़ता है, उसके लिये कितना अधिक श्रम अपेक्षित है। घर में यदि माता पिता और स्त्री पुत्र आदि में से किसी को भी अपने प्यारे से प्यारे की भी मृत्यु हो जाय तोभी व्यापार रुकता नहीं। यहाँ तक कि चाहे हृदय विदीर्ण ही क्यों न होता रहे, किन्तु हम अपने व्यापार के स्थान पर अपनी दूकान पर जाते ज़रूर हैं। मानसिक व्यथाओं के मारे छटपटाते रह कर भी हम अपना लेन-देन, अपना क्रय-विक्रय बन्द नहीं करते। इस तरह की तल्लीनता से व्यापार होता है, परन्तु वह हमें खलता नहीं। उसे हम चाव से करते हैं। कहते हैं कि यह बिल्कुल ठीक है।

संसार के अन्य व्यापारों में जितनी भी लगन की जरूरत पड़ती है, उससे कहीं अधिक एकाग्रता इस शास्त्र में प्रवेश करने के लिये अपेक्षित है। व्यापार में अधिकांश लोग सफल हो सकते हैं, परन्तु इस शास्त्र में प्रवेश कुछ इने-गिने लोगों के ही भाग्य में बदी होती है। बात यह है कि इस विषय की सफलता बहुत कुछ जिज्ञासु के मन की स्वाभाविक अवस्था पर ही निर्भर है, कुछ लोगों में भगवान की दी हुई एक विशेष प्रवृत्ति होती है जिसकी बदौलत वह अधिक शीघ्रता से सफल हो जाते हैं। व्यापार की बात ले लीजिये। इस ओर सभी लोग सफलता प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु उस सफलता में भी अन्तर हुआ करता है। किसी को कुछ विशेष सफलता मिलती है और किसी को कुछ कम। ठीक यही बात इस शास्त्र के सम्बन्ध में भी है। इसका अनुशीलन करके प्रत्येक व्यक्ति इस तरह का एक क्षीण आलोक प्राप्त कर लेता है जिसके द्वारा इसकी सत्यता का विश्वास हो जाता है। साथ ही उसके हृदय में इस बात का भी विश्वास हो जाता है कि इसका पूर्ण अनुभव करने वाले भी रहे होंगे।

यहाँ जो कुछ लिखा गया है, वह इस शास्त्र का साधारण परिचय भर है, परन्तु यह स्वतन्त्र रूप से एक बहुत विस्तृत और व्यापक शास्त्र है, किसी भी शास्त्र की तुलना में यह हीन नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि बहुत से इस शास्त्र के अनुगामी भी ढोंगी होते हैं। तरह तरह के इन्द्रजाल रचते हैं और लोगों को धोखा देते हैं। दूसरे क्षेत्रों की अपेक्षा इस क्षेत्र में अधिक ऐसे व्यक्ति मिलेंगे। बात यह है कि जो व्यापार जितना ही लाभदायक होता है, उसके क्षेत्र में उतने ही अधिक धूर्त प्रचारक भी होते हैं परन्तु इसी कारण वह व्यापार भी अच्छा न समझा जावे यह अनुचित है।

एक बात और है। इस शास्त्र के सम्बन्ध में तरह तरह के तर्क-वितर्क सुनना एक अच्छा बौद्धिक व्यायाम है। इससे बुद्धि में बहुत कुछ प्रखरता आ

जाती है। इसकी करामातों को सुन कर भी बुद्धि को सन्तोष होता था परन्तु आप में से जो भी इसकी अपेक्षा कुछ अधिक लाभ उठाना चाहते हैं, कुछ सीखना चाहते हैं, वे केवल व्याख्यान सुनकर ही न सफल हो सकेंगे। यह विषय व्याख्यान देकर नहीं सिखलाया जा सकता, कि यह जीवन है और जीवन ही जीवन का संचार कर सकता है। आप में से यदि कोई भी ऐसे महानुभाव हों, जो इस विषय का ज्ञान करने का संकल्प कर चुके हों उनकी सहायता के लिये मैं सहर्ष तैयार हूँ।

---

## ज्ञान-योग

पदार्थों को यथार्थ रूप में जानने के लिये प्रयत्नशील होने पर चाहे हम किसी भी युक्ति का अनुसरण करें, अत्यधिक विश्लेषण करने पर हमें वे पदार्थ एक ऐसी विशेष अवस्था में दृष्टिगोचर होते हैं, कि ऊपर से देखने में उनका वह रूप असंगत सा जान पड़ता है। हमारी बुद्धि उनके उस रूप को नहीं समझ पाती, फिर भी वही उनका वास्तविक रूप होता है। किसी पदार्थ को हम ले लेते हैं और उसे प्रमेय समझते हैं। हम समझते हैं कि इस पदार्थ से हम सर्वथा परिचित हैं; परन्तु जैसे ही हम उसका विश्लेषण करने लगते हैं, वह हमारी बुद्धि से परे हो जाता है, हम उसके समस्त गुणों का अन्त नहीं पा सकते। इस पदार्थ में किस किस प्रकार के परिवर्तन सम्भव हैं, किन किन पदार्थों में इसका किस प्रकार का सम्बन्ध है, और इसमें कितनी शक्ति है आदि बातों का जानना, हमारे लिये असम्भव हो जाता है। उस दशा में वही पदार्थ अप्रमेय हो जाता है।

एक साधारण से फूल को ही ले लीजिये। वह एक बहुत छोटी ही सी वस्तु है। उसके भिन्न भिन्न अंशों को भली भांति देखने और उनकी परीक्षा करने में अधिक परिश्रम और समय की आवश्यकता नहीं पड़ती। परन्तु संसार में कौन सा ऐसा व्यक्ति है, जिसे उस फूल के सम्बन्ध की ही सारी बातें ज्ञात हों? उस फूल के सम्बन्ध में पूर्णरूप से ज्ञान प्राप्त करना किसी भी व्यक्ति के लिये सम्भव नहीं है। इस प्रकार वही ज़रा सा फूल अप्रमेय हो जाता है, जो प्रारम्भ में प्रमेय था। एक चुटकी भर बालू लेकर उसका विश्लेषण कीजिये। पहले हमें इस प्रकार की प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि यह बालू प्रमेय है; इसका समस्त गुण-दोष हम जान सकते हैं। हमें यह भी ज्ञात है कि इसमें किस प्रकार के विकार और परिवर्तन हो सकते हैं। परन्तु जैसे जैसे हम उसके सम्बन्ध की समस्त बातों पर विचार करते जाते हैं, हमारी बुद्धि चक्कर में आ जाती है।

वही चुटकी भर बालू हमारे लिये अप्रमेय हो जाता है, हमें उसका अन्त नहीं मिलता। यही बात फूल के सम्बन्ध में भी घटित हुई थी। अन्य पदार्थों के सम्बन्ध में भी यही बात लागू हो सकती है।

उपर्युक्त दृष्टान्त हमारे विचारों, शारीरिक तथा मानसिक अनुभवों के संबन्ध में भी घटित हो सकता है। हम अपने विचारों और कार्यों को एक छोटे पैमाने पर आरम्भ करते हैं और उन्हें अत्यन्त लघु रूप में ग्रहण करते हैं। परन्तु क्षण भर में ही वे हमारी जानकारी से बहुत दूर निकल जाते हैं और अप्रमेय के अगाध गर्त्त में प्रविष्ट हो जाते हैं। जितनी भी वस्तुयें उपलभ्य और ज्ञात की जा सकती हैं उनमें सब से प्रथम और अधिक महत्व के हम अपने आप हैं। अपने अस्तित्व के संबन्ध में भी हम इस द्विविधा में पड़े हैं। हम वर्तमान हैं। हमारी यह सत्ता हमारी दृष्टि में परिमित है, इसमें किसी तरह की अप्रमेयता नहीं है। जन्म-मरण के फेर में पड़े रहते हैं।

हमारा दिङ्मण्डल, हमारा संसार, बहुत ही संकीर्ण है। यहाँ हम बहुत ही परिसीमित हैं, और हमारे चारों ओर विश्व ब्रह्माण्ड परिव्याप्त है। प्रकृति हमें क्षणभर में ही जहाँ की तहाँ कर सकती है, मानो हमारा यह छोटा सा शरीर क्षणभर की सूचना के ही द्वारा खण्ड खण्ड हो जाने के लिये तैयार रहता है। यह बात हम जानते हैं। कार्य से क्षेत्र के कैसे असमर्थ हैं हम। हमारी इच्छा-शक्ति बार बार ठुकराई जाती है। कितने ही कार्यों की ओर हम प्रवृत्त होते हैं, किन्तु उनमें से कितने थोड़े से कार्यों का सम्पादन कर पाते हैं। हमारी अभिलाषायें अनन्त हैं। हम सभी कार्यों का संपादन करने की, सभी वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा कर सकते हैं, हम आकाश के तारों से खेलने की अभिलाषा कर सकते हैं, परन्तु हमारी कितनी थोड़ी सी इच्छायें पूर्ण होती हैं। शरीर ऐसा नहीं होने देगा। बात यह है कि प्रकृति हमारी इच्छाओं की पूर्ति के विरुद्ध है। हम दुर्बल हैं।

जो कुछ फूल, अन्न, इस भौतिक संसार तथा हर एक के विचारों के सम्बन्ध में सत्य है, वह बातें हमारे अपने आप के सम्बन्ध में सौ गुनी सत्य है। जहाँ हम प्रमेय हैं, वहो अप्रमेय भी हैं। इस कारण अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में हम भी इसी द्विविधा में पड़े हैं। हम लोग समुद्र की तरंगों के समान हैं। समुद्र की तरंगें अवयवावयवी भाव से समुद्र हैं भी और नहीं भी हैं। समुद्र की तरंग का कोई भी ऐसा भाग नहीं है जिसके सम्बन्ध में आप यह न कह सकते हों, कि यह समुद्र है। 'समुद्र' यह नाम तरंग से लिये भी चरितार्थ होता है और समुद्र के अन्य भागों के लिये भी। किन्तु फिर भी वे सब भाग समुद्र से पृथक हैं। इस तरह सत्ता के सागर में हम क्षुद्र तरंगों के रूप में हैं, साथ ही जब हम सचमुच अपने आपको जानना चाहते हैं, तब सफल नहीं हो पाते, हम अप्रमेय हो गये हैं।

हम स्वप्न जगत में विचरण करते से जान पड़ते हैं। जिस समय हमारा मन स्वप्न में विचरण करता रहता है, वे स्वप्न हमें सत्य से जान पड़ते हैं परन्तु जैसे ही आप उनमें से एक को भी वास्तव जगत में ग्रहण करने के लिए उद्यत होते हैं, वे न जाने कहाँ विलीन हो जाते हैं। यह क्यों? इसका यह कारण नहीं है कि वे मिथ्या हैं। उनके समीप तक हमारी पहुँच इसलिये नहीं हो पाती, वास्तव जगत में हम उनका अनुभव इसलिये नहीं कर पाते कि उनका परिज्ञान करना हमारी बुद्धि, हमारे विवेक की शक्ति के परे है। इस जीवन में हर एक वस्तु इतनी विशाल है कि उसकी तुलना में बुद्धि तो कोई चीज ही नहीं है। बुद्धि के नियमों को मानकर चलने के लिये वे ज़रा भी तैयार नहीं होतीं। उन वस्तुओं को जकड़ने के लिये उनके आस-पास बुद्धि जो जो रस्सियाँ फैलाने का प्रयत्न करती है, वे उनको नगण्य समझती हैं। मानव आत्मा के संबन्ध में यह बात सौ गुना लागू है। "हम अपने आप"—हमारी आत्मा—विश्व का सबसे बड़ा रहस्य है।

कितना अद्भुत व्यापार है ! मनुष्य के नेत्रों की ओर देखिये । कितनी सरलता से वे नष्ट किये जा सकते हैं। परन्तु बड़े से बड़े सूर्य केवल इस लिये वर्तमान हैं कि आप के नेत्र उन्हें देखते हैं। संसार इसलिये सत्तावान् है कि आप के नेत्र उसके अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं। इस रहस्य पर विचार कीजिये । ये वेचारी छोटी छोटी आँखें, इन्हें एक अत्यन्त तीक्ष्ण प्रकाश या एक आलपीन नष्ट कर सकता है। परन्तु फिर भी इस नश्वरता के अत्यन्त शक्तिमान् यंत्र, अत्यंत शक्तिशाली जल-प्रलय, बहुत ही विचित्र जीव, लाखों सूर्य, तारे, चन्द्रमा और पृथ्वी आदि को अपने अस्तित्व के लिये इन दो छोटी छोटी वस्तुओं, नेत्रों पर निर्भर रहना पड़ता है । इन दोनों नेत्रों के ही द्वारा समस्त पदार्थों के अस्तित्व को प्रमाणित होना पड़ता है। ये कहते हैं, प्रकृति तुम वर्तमान हो और हम विश्वास कर लेते हैं कि प्रकृति वर्तमान है। यही बात हमारी इंद्रियों तथा उनके विषयों के सम्बन्ध में भी जाननी चाहिये ।

यह सब क्या है ? दुर्बलता कहाँ पर है ? बलवान कौन है ? कौन लघु है और कौन महान् ? सत्ता की इस अद्भुत पारस्परिक सापेक्षिता में, जहाँ समस्त पदार्थों के वर्तमान रहने के लिये छोटा से छोटा परमाणु भी अपेक्षित है, कौन उच्च है और कौन निम्न ? कौन महत्व-पूर्ण है और कौन तुच्छ ? उस अनन्त, अप्रमेय सागर के ही द्वारा वे सारे पदार्थ एक दूसरे से भिन्न हैं, उनकी वास्तविकता वही अप्रमेय है। वृक्ष अप्रमेय है। जितने भी पदार्थ हमारे इंद्रियगोचर हैं, जितने भी विचार हमारे मस्तिष्क में उदय होते हैं, वे सभी अनन्त हैं, अप्रमेय हैं। जितनी भी वस्तुयें सत्तावान् हैं वे सभी अनन्त हैं, अप्रमेय हैं। हर एक आत्मा अनन्त है, अप्रमेय है। प्रमेय अप्रमेय है और अप्रमेय प्रमेय। यही हमारी सत्ता है ।

यह सब कुछ सत्य हो सकता है । परन्तु अप्रमेय के संबन्ध में जितने भी भाव हैं, उनमें से अधिकांश वर्तमान समय में अज्ञात हैं। यह बात

नहीं है कि हम अपनी अप्रमेय प्रकृति को भूल गये हैं। कोई भी उसे नहीं भूल सकता। कोई कभी यह कैसे सोच सकता है कि मैं नष्ट किया जा सकता हूँ। कौन यह सोच सकता है कि मैं मर जाऊँगा। यह कोई नहीं सोच सकता। अप्रमेय के साथ हमारा जितना और संबन्ध है, वह हमारे भीतर अज्ञात भाव से कार्य करता रहता है। इसलिये एक प्रकार से हम अपनी वास्तविक सत्ता को ही भूल जाते हैं यही कारण है कि ये सारे दु:ख क्लेश हम पर आक्रमण करते हैं।

प्रति दिन के व्यावहारिक जीवन में हमें छोटी छोटी वस्तुओं के द्वारा कष्ट मिलता है, छोटी वस्तुयें भी हमें दासता की बेड़ी में जकड़ती रहती हैं। दु:ख क्लेश इसलिये आते हैं कि हम अपने को प्रमेय समझते हैं, बहुत तुच्छ जीव समझते हैं। दु:ख-क्लेश की अवस्था में एक छोटी सी वस्तु जब हमें अपने सामञ्जस्य से पृथक कर सकती है तो हमें इस बात का विश्वास करने के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये कि मैं अप्रमेय हूँ। और सच बात यह है कि हम अप्रमेय हैं। हम ऐसी वस्तु की खोज में हैं, जो स्वतंत्र है।

कोई भी मनुष्य-जाति ऐसी नहीं हुई जो किसी धर्म की अनुयायी न हुई हो वा किसी देवी देवता की उपासना न करती रही हो। देवी-देवताओं का कभी अस्तित्व रहा है कि नहीं इससे कोई मतलब नहीं है। प्रश्न तो यह है कि अध्यात्म शास्त्र में कौन सा ऐसा चिन्त्य विषय है, जिसका ज्ञान प्राप्त करने के लिये लोग उसका विश्लेषण, उसका ऊहापोह किया करते हैं? यह सारा संसार ईश्वर की खोज में, उसकी उपलब्धि के लिये, रातदिन प्रयत्नशील क्यों रहता है? इसका कारण क्या है? बात यह है कि यह मानव-आत्मा अपनी स्वतंत्रता को कभी नहीं भूलती, वह सदा उस स्वतंत्रता ही की खोज में रहा करती है। यद्यपि यह आत्मा तरह तरह के बन्धनों से जकड़ी रहती है और प्रकृति के नियम उसे इस तरह दबाये रहते हैं कि वह किसी ओर घूमने नहीं पाती, हम जहां कहीं भी

जाते हैं या जो भी कार्य करना चाहते हैं, प्रकृति के ये कानून हमें बाधा पहुँचाये बिना नहीं रहते। परन्तु ये सारे बन्धन, प्रकृति का यह सारा दबाव, मानव-आत्मा की स्वातंत्र्य-प्रियता का अन्त नहीं कर पाता।

स्वतंत्रता की खोज के लिये मनुष्य जो कुछ प्रयत्न करता है, वही सब कार्यों की खोज का प्रयत्न है, चाहे उसे वह ज्ञात हो या अज्ञात, चाहे उसे वह सुव्यवस्थित कर रक्खे या दुर्व्यवस्थित, परन्तु उसका लक्ष्य उसी ओर रहता है। छोटे से छोटा भी मनुष्य, चाहे वह कितना ही अज्ञानी क्यों न हो, कोई ऐसी शक्ति प्राप्त करने की चिन्ता में रहता है जो प्रकृति के कानूनों को भंग करने में समर्थ हो। चाहे ईश्वर हो, देवता हो या दानव हो, मनुष्य तो किसी ऐसे शक्तिशाली की खोज में रहा करता है, जो प्रकृति को अपनी अधीनता में रख सके, जिसके लिये प्रकृति ही सर्वशक्तिमान् न हो, जिसके लिये किसी प्रकार का कानून, किसी प्रकार का विधि-निषेध न हो, जो हर तरह के कानूनों, हर तरह की विधि-व्यवस्थाओं को तोड़ सके। मानव-हृदय से यही आवाज़ निकल रही है, मनुष्य अपनी इसी इच्छा की पूर्ति के लिये लालायित है। हम सदा ही किसी ऐसी शक्ति की खोज में रहते हैं जो कानून को भंगकर सके।

रेल का इंजन, जो सैकड़ों मन का बोझ लेकर बड़े वेग से दौड़ता है, रेल की पटरियों पर ही दौड़ता रहता है, अपने मार्ग से वह तिल भर भी इधर उधर नहीं होता। परन्तु नन्हा सा कीड़ा जो फिसल कर चलता है, एक रास्ते पर नहीं चलता, कभी ज़रा सा पूर्व जाता है और कभी पश्चिम। हम तुरन्त कह उठते हैं कि इंजन जड़ पदार्थ है वह एक कल है और कीड़ा चेतन अर्थात् सजीव। क्योंकि कीड़े ने कानून भंग करने का प्रयत्न किया। इंजन एक खास ढंग से, खास दिशा में चलाने के लिये मनुष्य की इच्छा के अनुसार बनाया गया है। उसके विपरीत कार्य्य करने की शक्ति उसमें नहीं है। परन्तु कीड़े ने, अत्यन्त लघु होने पर भी, कानून को भंग करने तथा अपने आप को विपत्ति से बचाने के लिए प्रयत्न किया। कानून के विरुद्ध

उसने दृढ़ आवाज़ उठाई, उच्च स्वर से, दृढ़ता के साथ, उसने अपनी स्वतंत्रता का समर्थन किया और अन्त में—उसकी अंतरात्मा में—ईश्वर के भावी प्रकाश का चिन्ह था।

स्वतंत्रता का यह प्रतिपादन और आत्मा की यह स्वतंत्रता हम सर्वत्र देखते हैं। हर एक धर्म में यह ईश्वर या देवी देवता के रूप में प्रतिबिंबित होती है। परन्तु फिर भी यह सब बाह्य है, विशेषतः उन लोगों के लिए जो ईश्वर को बाहर देखते हैं।

मनुष्य ने निश्चय कर लिया मैं कुछ नहीं हूँ। उसे इस बात की आशंका हुई कि मैं कभी स्वतंत्र—मुक्त—न हो सकूंगा। तब वह प्रकृति के बाहर किसी ऐसी सत्ता की खोज में निकला जो कि स्वतंत्र हो। बाद को उसके ध्यान में यह बात आई कि इस विश्व में कितने ही स्वतंत्र जीव हैं। धीरे धीरे उसने उन समस्त जीवों को उस एक सत्ता के अंतर्भूत कर दिया जो समस्त देवताओं का देव और समस्त प्रभुओं का प्रभु है। इतने में भी मनुष्य को सन्तोष नहीं हुआ। वह सत्य के कुछ और भी समीप, कुछ और भी निकट पहुँचा। अंत में उसे ज्ञात हुआ कि मैं जो भी था किसी न किसी रूप से उन देवताओं के देव तथा प्रभुओं के प्रभु—ईश्वर से मेरा सम्बन्ध जुड़ा था।

आगे चलकर मनुष्य में दृष्टि-शक्ति आई, उसमें मानसिक व्यापारों का—चिंता का-उदय हुआ और ज्ञान की वृद्धि हुई। वह क्रमशः ईश्वर के समीप पहुँचने लगा। अन्त में उसने यह ज्ञान प्राप्त कर लिया कि ईश्वर तथा अन्य देवी-देवता, यह सारा आध्यात्मिक दर्शन, मनुष्य की उस खोज से, जो कि उसने एक सर्वशक्तिमान स्वतंत्र आत्मा की उपलब्धि के लिए की थी, सम्बद्ध है। परन्तु अपने आप यह सब उसे अपने आप के सम्बन्ध में जो ज्ञान है, उसका वह प्रतिफल न था। और आगे चलकर मनुष्य ने यह भी मालूम कर लिया कि यह सत्य है कि ईश्वर ने मनुष्य को अपनी कल्पना के अनुसार बनाया है। साथ ही इसे भी सच मानना

पड़ेगा कि मनुष्य ने ईश्वर को भी अपनी कल्पना के अनुसार बनाया है। इस ज्ञान ने ही पारमार्थिक-स्वर्गीय-स्वतंत्रता का भाव उत्पन्न किया। स्वर्गीय आत्मा-ब्रह्म-मनुष्य के अभ्यन्तर में ही, उसके समीप से समीप वर्तमान थी। अंत में हमें ज्ञात हुआ कि वही हमारे हृदय का हृदय है।

एक बड़ी मनोरंजक कथा है। एक आदमी ने अपने हृदय की धड़कन सुनी। उसे भ्रम हुआ कि कोई व्यक्ति द्वार पर खटखटा रहा है। उसने द्वार खोलकर देखा, तो वहाँ कोई नहीं था। इससे वह लौट आया। बाद को फिर उसे उसी प्रकार का शब्द सुनाई पड़ा। परन्तु बार बार देखने पर भी कोई मनुष्य द्वार पर धक्का देता हुआ न दिखाई पड़ा। बाद को किसी प्रकार ज्ञात हुआ कि यह शब्द हमारे हृदय की धड़कन का ही है, इसे मैंने भूलकर दरवाजे की खटखटाहट समझ ली थी। ठीक इसी तरह बड़े अनुसन्धान, बड़ी खोज, के बाद मनुष्य को ज्ञात हुआ कि यह स्वतंत्रता, जो आदि अन्त से परे है, जिसे हम सदा अपनी कल्पना में प्रकृति से परे स्थान देते हैं, वह भीतर का, अन्तःकरण का, आध्यात्मिक विषय है। वह आत्माओं की शाश्वत आत्मा, यह चिरसत्य, वह स्वयं है।

इस प्रकार अन्त में सत्ता के इस अद्भुत द्वैतभाव को वह जान पाता है। ये प्रमेय और अप्रमेय दोनों ही विषय एक हैं। यह अप्रमेय सत्ता वही प्रमेय आत्मा है। अप्रमेय की उपलब्धि बुद्धि के जाल-रन्ध्र में हुई है और यह स्पष्ट रूप से प्रमेय जीव के रूप में परिव्यक्त होता है। परन्तु जो वास्तव है, वह सदा अपरिवर्तित रहता है।

जो अपरिवर्तनीय है, शाश्वत है, सदानन्द है; सदामुक्त है, वही हमारी आत्माओं की आत्मा है, वही सत्य है और इसमें—हमारे अन्तः-करण में—वर्तमान है। उसके सम्बन्ध का ज्ञान वास्तविक ज्ञान है। यही एक दृढ़ भूमि है, जिस पर कि हम पैर जमा सकते हैं।

यही समस्त मृत्यु का, प्रलय का अन्त है। समस्त अनैक्यकता का आविर्भाव है और समस्त दुःख क्लेश का अवसान है। जो व्यक्ति बहुतों में

उस एक को देखता है, जो इस परिवर्तनशील संसार में अपरिवर्तनीय है, जो व्यक्ति उसे अपनी आत्मा की आत्मा के रूप में देखता है उसे ही, केवल उसी को, शाश्वत शान्ति मिलती है, दूसरा कोई भी उसका अधिकारी नहीं होता।

दुःख-क्लेश के, अधःपतन के, गहरे से गहरे गर्त में भी चिरंतन आत्मा प्रकाश की एक किरण पहुँचाती है और मनुष्य सजग होकर यह अनुभव करता है कि जो कुछ वास्तव में उसका है, उससे वह वंचित नहीं रह सकता। जो सचमुच हमारा है, जिसके हम अधिकारी हैं, वह हमारे हाथ से कभी नहीं जा सकता। अपने अस्तित्व को भला कौन रोक सकता है? यदि मैं सज्जन हूँ तो पहले मेरा अस्तित्व है, उसके बाद मेरे ऊपर सज्जनता का रङ्ग चढ़ा है। यदि मैं दुष्ट हूँ तो मेरा अस्तित्व पहले है, बाद को कहीं दुष्टता के रंग से रंग जाता हूँ। यह अस्तित्व प्रारम्भिक है, अन्तिम है और सर्वकालिक है। यह कभी नष्ट नहीं होता, सदा वर्तमान रहता है।

इस दशा में किसी के भी निराश होने का कारण नहीं है। कोई भी मर नहीं सकता, कोई भी अवगति के गर्त में, अधःपतन की अवस्था में, सदा नहीं पड़ा रह सकता है। जीवन एक क्रीड़ाभूमि है। वह क्रीड़ा चाहे कितनी ही निरस क्यों न हो। हमारे ऊपर चाहे कितने ही आघात क्यों न पहुँचें, हम चाहे कितने ही धक्के क्यों न खाँय, हमारी आत्मा सदा वर्तमान रहती है और उसे किसी प्रकार की भी क्षति नहीं पहुँच पाती। हम अप्रमेय हैं, अनन्त हैं, चिरंतन हैं।

एक वेदान्ती ने एक बहुत ही भावपूर्वक गीत गाया था। उसका आशय इस प्रकार है। हमें न कभी कोई भय था न संदेह। मृत्यु कभी मेरे पास तक न फटक पाई। मेरे माता पिता कभी थे नहीं, क्योंकि मैंने तो कभी जन्म ही ग्रहण नहीं किया। मेरे शत्रु कहाँ हैं? क्योंकि मैं तो समस्त विश्व में व्याप्त हूँ। मैं सत्ता हूँ, ज्ञान हूँ और परमानन्द हूँ। मैं

ही सर्वव्यापी हूँ। सोऽहम्, सोऽहम्। काम क्रोध ईर्ष्या तथा अन्य समस्त दुर्भावनायें मुझमें कभी नहीं आतीं क्योंकि मैं सत्ता हूँ, ज्ञान हूँ, परमानन्द हूँ। मैं सर्वव्यापी हूँ। सोऽहम्, सोऽहम्।

यह सारी व्याधि की औषधि है, मृत्यु से बचाने के लिये सुधारस है। यहाँ हम इस संसार में हैं, इधर हमारी प्रकृति इसके विरुद्ध विद्रोह कर रही है। परन्तु आइये हम लोग इस वाक्य को बार बार दोहरावें सोऽहम्, सोऽहम्—हम वह हैं, हम वह हैं। मुझे न तो किसी प्रकार का भय है और न किसी प्रकार का संदेह। मेरी मृत्यु भी नहीं हो सकती। मैं लिङ्ग, धर्म तथा वर्ण से भी परे हूँ। किस लिङ्ग अथवा सम्प्रदाय के अन्तर्गत मैं हो सकता हूँ? कौन सा ऐसा सम्प्रदाय है, जो मुझे अपने अन्तर्गत रख सके? मैं हर एक सम्प्रदाय में व्याप्त हूँ।

शरीर चाहे कितना ही अधिक विद्रोह करे, मन चाहे कितना ही अधिक विद्रोह करे, सूचीभेद्य अंधकार के मध्य में, हृदय-विदारक यंत्रणा के मध्य में, अत्यधिक निराशा में रहकर भी बार बार इसकी आवृत्ति करेंगे। एक बार, दो बार, तीन बार और भी जितने बार कर सको करते जाओ। प्रकाश मंद गति से, बहुत धीरे से आता है, परन्तु आता जरूर है।

कितनी हो बार मैं मृत्यु के मुख में पहुँच चुका था, भूख के मारे कंठ सूख रहा था, थकावट के मारे पैर नहीं उठते थे। दुश्चिन्ताओं के कारण व्यग्र था। दिन पर दिन मुझे निराहार व्यतीत करने पड़े थे और प्रायः आगे की ओर पैर बढ़ाने में मैं असमर्थ हो पड़ा था, तब हिम्मत हार कर एक पेड़ के नीचे बैठ गया और ऐसा जान पड़ा मानो जीवन का अन्त हुआ ही चाहता है। मेरे मुँह से बात नहीं निकल पाती थी, विचार-शक्ति प्रायः शिथिल हो चली थी, परन्तु अंत में मन इस धारणा पर लौट कर आ गया कि मुझे न तो किसी प्रकार का भय है और न मेरी मृत्यु ही हो सकती है। क्षुधा-पिपासा भी मुझे बाधा नहीं पहुँचा सकती। सोऽहम्, सोऽहम्। मैं वह हूँ, मैं वह हूँ। यह सारी प्रकृति मुझे विमर्दित नहीं कर

सकती, यह तो मेरी सेविका है। तू निस्सन्दिग्ध भाव से अपनी सबलता का प्रतिपादन कर! तू प्रभुओं का प्रभु और देवताओं का देव है! तू अपना नष्ट साम्राज्य फिर से उपलब्ध कर। उठ और चल, पैर मत रुकने दे। मैं भी सतेज होकर उठ पड़ा और आज यहाँ आप के सामने वर्तमान हूँ। इस तरह जब कभी अंधकार आता है, सत्य का प्रतिपादन कीजिये, सारी आपदाओं का, सारी दुरवस्थाओं का विनाश हो जायगा।

सारी आपदायें, सारे दुःख क्लेश, और कुछ नहीं हैं, ये केवल स्वप्न हैं। हमारी कठिनाइयाँ पर्वत के समान हमें दुर्लंघ्य, सारी वस्तुयें भयंकर और अंधकारमय प्रतीत होती हैं, परन्तु यह सब और कुछ नहीं केवल माया है। भय मत करो, यह नष्ट हो चुकी है। इसे पीस कर डालो, यह तिरोहित हो जायगी। इसे पददलित कर डालो, यह लुप्त हो जायगी। डरो मत, इस बात की चिन्ता मत करो कि मुझे कितने बार असफल होना पड़ा है। कोई परवा नहीं। समय अनन्त है। आगे की ओर पैर बढ़ाये जाओ। बार बार प्रयत्न करते रहो, अंत में चेतना आकर रहेगी। जिन्होंने सदा ही जन्म ग्रहण किया है, उनमें से हर एक से आप प्रार्थना कर सकते हैं। परन्तु आप की सहायता के लिये कौन हाथ बढ़ावेगा? मृत्यु के मार्ग के सम्बन्ध में क्या कर सकोगे, जिससे बचने का उपाय किसी को भी ज्ञात नहीं है? तू अपने को आप से बचा।

तेरी रक्षा करने वाला इस विश्व में कोई नहीं है। किसी भी मित्र में ऐसा करने की शक्ति नहीं है। बात यह है कि संसार में तू ही अपना सब से बड़ा शत्रु है और सबसे बड़ा मित्र! तू चिन्ता मत कर! हर को पहचान! तब खड़ा हो! तू चिन्ता मत कर! हर तरह की आपदाओं और दुर्बलताओं के मध्य में आत्मा को प्रकाशमान होने दे, यद्यपि यह प्रारम्भ में क्षीण और अव्यक्त ज्ञात होगा। परन्तु आत्मा के प्रकाशमान होने पर आपमें धीरता आ जायगी, और अंत में आप सिंह के समान गरज उठेंगे सोऽहम्, सोऽहम्—मैं वह हूँ, मैं वह हूँ।

मैं न तो पुरुष हूँ, न स्त्री हूँ और न देवता या दानव हूँ। मैं न तो कोई पशु हूँ, न पेड़ पौदा हूँ, मैं न धनी हूँ, न दरिद्र हूँ, न पंडित हूँ, न मूर्ख हूँ। मैं जो कुछ हूँ उसकी तुलना में ये सारी वस्तुयें नगण्य हैं। क्योंकि मैं वह हूँ, मैं वह हूँ। सूर्य चंद्रमा तथा तारों को देखो। मैं वह प्रकाश हूँ जिसकी बदौलत ये सब चमक रहे हैं। मैं अग्नि की ज्योति हूँ। मैं विश्व की शक्ति हूँ। इसलिये कि मैं वह हूँ, मैं वह हूँ।

किसी कवि ने क्या ही अच्छा कहा है कि :—

जिस किसी की भी धारणा है कि मैं लघु हूँ वह बड़ी भूल करता है। बात यह है कि जितनी भी वस्तुयें सत्तावान हैं, वह सब आत्मा हैं। सूर्य सत्तावान् है इसलिये कि मैं उसके अस्तित्व को विज्ञापित करता हूँ। संसार इसलिये सत्तावान है कि मैं उसके अस्तित्व को विज्ञापित करता हूँ। विना मेरे ये सब नहीं रह सकते क्योंकि मैं सत्ता हूँ ज्ञान हूँ, परमानन्द हूँ। मैं चिर सुखी, चिर विशुद्ध और चिर सुन्दर हूँ। देखिये सूर्य हम सबका चक्षुरिन्द्रिय का कारण है, परन्तु यदि किसी के नेत्र में किसी प्रकार का विकार हो तो उस पर उसका प्रभाव नहीं पड़ता। ठीक इसी तरह मैं भी हूँ। मैं समस्त इन्द्रियों के द्वारा कार्य्य-निरत रहता हूँ, परन्तु कार्य्य के गुण-दोष मेरे ऊपर कभी प्रभाव नहीं डाल पाते। कार्य्य के नियम कायदे मेरे अधीन हैं। मैं सदा था और सदा हूँ।

मेरा भौतिक सुख इन सांसारिक वस्तुओं, पति-पत्नी तथा कन्या पुत्र आदि में कभी नहीं था। मैं इस अनंत नील आकाश के समान हूँ। रंग विरंग के बादल उसके ऊपर से उड़ते रहते हैं और क्षण भर ठहर कर उसके साथ खेल लेते हैं; बाद को जब वे हट जाते हैं तो उसकी नीलिमा फिर ज्यों की त्यों निकल आती है उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता।

सुख और दुख, गुण और दुर्गुण क्षण भर के लिए चाहे मेरी आत्मा पर परदा डालकर मुझे ढक लें, परन्तु मैं अपनी वास्तविक अवस्था

मैं ही हूँ। वे आवरण हट जाते हैं क्योंकि वे परिवर्तनशील हैं मैं देदीप्यमान रहता हूँ, क्योंकि मैं अपरिवर्तनीय हूँ, निर्विकार हूँ। जब किसी प्रकार का दुःख क्लेश आता है, तब हम समझ लेते हैं कि यह विनाशशील है, यह नष्ट हो जायगा। जब कभी कोई अनिष्टकर बात आती है, तब हम जान लेते हैं कि इसका अंत होकर ही रहेगा। क्योंकि यह नश्वर है। मैं ही एक मात्र अनन्त हूँ, निर्विकार हूँ। इसलिए कि मैं आदि अंत से परे हूँ, अपरिवर्तनीय हूँ, अनिर्वचनीय हूँ।

आओ, हम वह प्याला घूँटें, उस अनुपम रस का पान करें, जो हर एक वस्तु को उस अमर की ओर, उस निर्विकार की ओर ले जाता है। भय त्याग दो। इस बात पर विश्वास न करो कि हम पापात्मा हैं, हम नश्वर हैं, हम सदा मर सकते हैं। यह सच नहीं है।

इस विषय का सदा श्रवण करना चाहिए, इस पर विचार करते रहना चाहिए और इसका मनन करना चाहिए। जिस समय हाथ क्रियाशील रहे, उस समय इस बात की ही आवृत्ति करता रहे कि मैं वह हूँ, मैं वह हूँ। इसको सोचो। इसका स्वप्न देखो, जब तक कि यह ज्ञान तुम्हारे अस्थि-पञ्जर में सर्वथा तन्मय न हो जाय, जब तक कि यह लघुता की, दुर्बलता की, दुःख क्लेश की और अनिष्ट की, कल्पना सर्वदा अन्तर्हित न हो जाय। तब फिर एक क्षण के लिये भी सत्य तुम्हारी आँखों से ओझल न रहेगा।

———

# भक्ति योग

किसी नर-रूप धारी ईश्वर की भावना का प्रचार हर एक धर्म में विद्यमान है। कुछ ही ऐसे धर्म होंगे जिसमें ईश्वर के सगुण रूप का प्रचार न हो। बौद्ध तथा जैन धर्म के अतिरिक्त संसार में और जितने भी धर्म हैं, उनमें से प्रायः सभी के अनुयायी किसी न किसी देहधारी ईश्वर की उपासना किया करते हैं। इस सगुण रूप की भावना के साथ ही साथ भक्ति और उपासना की भावना का भी उदय होता है। बौद्ध तथा जैन धर्म के अवलम्बी यद्यपि किसी देहधारी ईश्वर को नहीं मानते, परन्तु वे लोग भी अपने अपने धर्म-प्रवर्तकों को ठीक उसी प्रकार श्रद्धा और भक्ति के साथ पूजते हैं, जिस प्रकार कि अन्य धर्मों के अनुयायी सगुण ईश्वर यानी अपने अपने प्रधान देवता की उपासना किया करते हैं।

किसी ऐसी उच्चतर सत्ता—देवता—की उपासना करने की भावना जो मनुष्य की श्रद्धा भक्ति से प्रसन्न होकर उसे अपने प्रेम रस से अभिषिक्त कर सके, समस्त विश्व में व्याप्त है। यह स्नेह और भक्ति भिन्न भिन्न धर्मों में अवस्था और अधिकार-भेद से भिन्न भिन्न रूपों और मायाओं में व्यक्त हुआ करती है। सबसे नीचे की अवस्था कर्म काण्ड की है। मनुष्य जब सूक्ष्म तत्व अर्थात् निराकार ब्रह्म का ध्यान करने में असमर्थ होता है, तब वह सबसे नीचे के क्षेत्र में आकर्षित हो जाता है। और स्थूल यानी सगुण की उपासना करने लग जाता है।

संसार के समस्त इतिहास में हमें इसी बात का पता चलता है कि मनुष्य ध्यान, विधि, अनुष्ठान तथा प्रतिमाओं की सहायता से इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्व अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील है। घंटा स्तुति, विधि अनुष्ठान, धर्म ग्रन्थ तथा प्रतिमा आदि धर्म के जितने भी बाह्य लक्षण हैं, वे सब इस प्रयत्न के ही अंतर्गत आते हैं। कोई भी वस्तु जो इन्द्रियों को प्रभावित कर सके, कोई भी वस्तु जो सूक्ष्म निराकार को

स्थूल मूर्ति के रूप में परिवर्तित करने में सहायक बन सके, वह ग्रहण कर ली जाती है और लोग उसकी उपासना करते हैं।

समय समय पर हर एक धर्म में सुधारक उत्पन्न हुए हैं और उन सब ने हर प्रकार की प्रतिमाओं तथा विधि अनुष्ठानों का विरोध किया, परन्तु इस दिशा में उनका सारा प्रयत्न निष्फल हुआ। बात यह है कि मनुष्य जब तक संसार में रहेगा, तब तक उसकी बहुत बड़ी संख्या सदा ही अपना ध्यान अवस्थित करने के लिये किसी स्थूल वस्तु की अपेक्षा करती रहेगी। उसके लिये कोई ऐसी वस्तु आवश्यकीय होती है, जिसके समीप वह भावों को अवस्थित कर सके, जो उसके ध्यान का केन्द्र बन सके। मुसलमानों तथा प्रोटेस्टेंटों ने एक मात्र मूर्तियों तथा पूजा-अनुष्ठान का अंत करने के लिये कितनी असाध्य साधना की, परन्तु हम देखते हैं कि उनके समुदाय में भी यह पूजा-अनुष्ठान बराबर चला आ रहा है। लाख प्रयत्न करने पर भी मूर्ति तथा उपासना आदि का मानव-समाज से बहिष्कार नहीं किया जा सकता। धार्मिक आन्दोलन का इतना प्रभाव अलबत्ता पड़ जाता है कि जनता अपनी मूर्ति एवं पूजा-पद्धति में हेर फेर भर कर देती है।

जिन मुसलमानों की यह धारणा होती है कि दूसरे धर्म के मानने वाले जो कुछ क्रिया-कर्म, व्रत-उत्सव या मूर्तिपूजा आदि करते हैं; वह सब धर्म-विरुद्ध है, वे लोग काबा में अपने मन्दिर में पहुँच कर वैसे ही विचार नहीं रख सकते। काबा में मुसलमानों का जो मन्दिर है उसकी दीवार में काला सा एक पत्थर गड़ा है। तीर्थयात्रा के निमित्त जो व्यक्ति वहाँ जाता है, उसे उस काले पत्थर के बोसे लेने पड़ते हैं। कहा जाता है कि इस पत्थर के जितनी बार भी बोसे लिये जाते हैं, वे सभी ईश्वरीय न्याय क़यामत के दिन उस धर्मिष्ट तीर्थयात्री के रूप में वर्तमान रहते हैं। इसके अतिरिक्त वहाँ जिमजिम का कुआँ है। मुसलमानों का विचार है कि जो मनुष्य उस कुएँ से ज़रा सा भी पानी निकाल लेता है उसके

सारे पाप नष्ट हो जाते हैं और वह महाप्रलय के बाद सृष्टि का पुनरुत्थान होने पर दिव्य शरीर पाकर अमर हो जाता है।

दूसरे धर्मों में हम देखते हैं कि मूर्तियां बड़े बड़े भवनों के रूप में व्यक्त होती हैं। प्रोटेस्टेंटो के विचार से गिर्जा और सब तरह के स्थानों की अपेक्षा अधिक पवित्र होता है। इस प्रकार उनके लिये गिर्जा मानो एक प्रकार की मूर्ति ही है। या बाइबिल को ही ले लीजिये। उनकी दृष्टि में किसी भी प्रतिमा की अपेक्षा बाइबिल कहीं अधिक पुनीत वस्तु है। मूर्तियों के विरुद्ध प्रचार करना निरर्थक है। इस प्रकार के प्रचार की आवश्यकता ही क्या है? कोई भी ऐसा कारण नहीं है जिससे कि मनुष्य प्रतिमा का उपयोग न करें। मनुष्य के हृदय में ईश्वर के सम्बन्ध में जो भावना आती है, उसे ज्यों की त्यों व्यक्त करने के लिये वह प्रतिमा का उपयोग किया करता है।

यह विश्व ही एक प्रकार की मूर्ति है, जिसमें रह कर मनुष्य उसी के द्वारा उस अनुपम तत्त्व की उपलब्धि करने के लिये प्रयत्नशील रहता है, जो अज्ञेय और अनंत है। मनुष्य का लक्ष्य ब्रह्म है, भौतिक पदार्थ नहीं। विधि-अनुष्ठान, मूर्ति, घंटा, आरती, धर्म-ग्रन्थ, गिर्जा, मन्दिर तथा धार्मिकता के और जितने भी पवित्र लक्षण हैं, वे सभी बड़े सुन्दर हैं, और आध्यात्मिकता के उगते हुए पौदे को इन सब से बड़ी सहायता मिलती है। परन्तु इन सब का इतना ही उपयोग है, इससे अधिक ये और कोई उपकार नहीं कर सकते।

साधारण तौर से अधिक संख्या तो ऐसे ही मनुष्यों की पाई जाती है जिनके हृदय में आत्मज्ञान का अंकुर ही नहीं उत्पन्न होता। गिरजे में जन्म लेना यानी जीवन के प्रारम्भिक काल में तो मूर्ति-पूजा करना बहुत उत्तम है, परन्तु आजन्म उसी में पड़ा रहना ठीक नहीं है। जीवन के प्रारम्भिक काल में कुछ ऐसी विधियों का अनुसरण करना, जो हमारे आध्यात्मिक उत्कर्ष में सहायक बन सकें, बड़ी अच्छी बात है, परन्तु

आजन्म उसी विधि-अनुष्ठान के फेर में पड़े रहने का तो यह अर्थ होता है कि मानो इस व्यक्ति की भी किसी प्रकार की उन्नति हो नहीं हुई, अभी तक इसकी आत्मा का विकास ही नहीं हुआ।

जिस व्यक्ति का मत है कि मूर्ति-पूजा, अनुष्ठान तथा कर्म-काण्ड आदि जीवन-पर्यन्त के लिये आवश्यक है, उसकी बात युक्तिसंगत नहीं है। परन्तु जिसका सिद्धान्त है कि यह सब क्रिया-कर्म, यह सब उपासना आदि अविकसित अवस्था में पूर्ण की ओर—विकास की ओर अग्रसर होने में आत्मा के सहायक भर होते हैं, आत्मा का पूर्ण विकास हो जाने पर फिर इन सब की आवश्यकता नहीं रह जाती, उसका कथन बिलकुल सच है। परन्तु आत्मा के विकास या उन्नति का अर्थ-भेदों का बुद्धि सम्बन्धी उन्नति समझना भूल है।

अपरिमित मेधावी होकर भी मनुष्य आध्यात्मिक दृष्टि से एक दुधमुँहे बच्चे के समान हो सकता है। आइये! इस बात को जरा तर्क की कसौटी पर रख कर प्रमाणित कर लें। आप में से हर एक को इस बात पर विश्वास रखने की शिक्षा दी गई है कि ईश्वर एक है और वह विभु अर्थात् समस्त चराचर जगत में व्याप्त है। ज़रा सा इस बात के समझने का प्रयत्न कीजिये। संसार में कितने ऐसे व्यक्ति होंगे जो अपने हृदय में ईश्वर की उस विभुता, सर्वव्यापकता के सम्बन्ध में किसी प्रकार की धारणा स्थापित कर सकें, उसकी सर्व-व्यापकता का अर्थ समझ सकें।

यदि आप घोर प्रयत्न करें तो अगाध सागर, नील आकाश, शस्य-श्यामला सुविस्तृत पृथ्वी तथा शुष्क मरुभूमि की धारणा कर सकते हैं। ये सब भौतिक प्रतिकृतियाँ हैं। जब तक आप में निराकार का निराकार के रूप में ध्यान करने की योजना न आजायगी; जब तक केवल आप मन में ध्यान की जाने वाली वस्तु—ब्रह्म का ध्यान करने की योग्यता न प्राप्त कर लेंगे, तब तक आपको इन विभवों, अनुष्ठानों, भौतिक प्रतिकृतियों अर्थात् जड़ मूर्तियों का आश्रय लेना ही पड़ेगा।

इन मूर्तियों का चाहे हम मन में ध्यान करें या इन्हें सामने रखकर तन्मयता के साथ इनकी पूजा करें, ये दोनों ही बात करीब करीब समान हैं; इनमें कोई विशेप अन्तर नहीं है। हम सभी जन्म से मूर्तिपूजक हैं। मूर्तिपूजा है भी उत्तम वस्तु, क्योंकि यह मनुष्य की प्रकृति में है। कौन ऐसा सौभाग्यशाली पुरुष है जो इससे पारंगत हो सके? केवल वही जो पूर्ण है, जो सिद्ध है। केवल वह सिद्ध पुरुष ही, जो आत्मज्ञान का अधिकारी हो चुका है, इस मूर्ति-पूजा से मुक्त हो जाता है। ऐसे व्यक्ति को छोड़कर सभी मूर्तिपूजक हैं। यह विश्व हमें जब तक अपने विभिन्न आकार प्रकार में दृष्टिगोचर होता रहेगा, तब तक हम सभी मूर्तिपूजक बने रहेंगे।

यह विश्व ही एक सुविशाल प्रतिमा है, जिसकी हम सभी उपासना कर रहे हैं। जिसकी धारणा है कि यह शरीर 'मैं' हूँ, वह जन्मसिद्ध मूर्तिपूजक है। हम सब आत्मा हैं, वह आत्मा हैं, जो नाम रूप से परे है। वह आत्मा हैं जो अनन्त और अविनाशी है, नश्वर नहीं है। कोई भी यक्ति जो निराकार-चैतन्यस्वरूप परमात्मा का ध्यान करने में असमर्थ है, कोई भी व्यक्ति जो अपने आपको इस भौतिक शरीर से पृथक नहीं मानता, वह मूर्तिपूजक है। इस अवस्था में भी संसार में कितने ही ऐसे व्यक्ति हैं, जो एक दूसरे को मूर्तिपूजक कह कर परस्पर विवाद करते हैं। जो मनुष्य जिस आदर्श को ग्रहण करता है, उसी को उत्तम समझता है, दूसरों के आदर्श की निन्दा करता है।

धर्म के सम्बन्ध में बालकों की सी जो विकल्पात्मक बुद्धि फैली है, उससे हमें छुटकारा प्राप्त कर लेना चाहिए। जिन लोगों के विचार से धर्म केवल निःसार शब्द-जाल है, जिन लोगों के विचार से धर्म एक प्रकार का वाद है, जिन लोगों के विचार से धर्म बुद्धि का तर्क-वितर्क भर है, उनके जल्पवाद से सदा बचते रहना चाहिए। कुछ ऐसे भी लोग हैं, जो सोचते हैं कि हमारी सारी बुद्धि जिस बात को स्वीकार करे

वही धर्म है, और जिसे न स्वीकार करे वह अधर्म। कुछ लोग अपने गुरु के बताये हुए कुछ थोड़े से शब्दों को ही धर्म का तत्व मानते हैं। कुछ लोग अपने पूर्वजों के विश्वास तथा परम्परागत संस्कारों को धर्म मानते हैं, विशेषतः इसलिए कि ये संस्कार उनके राष्ट्र के संस्कार हैं। हमें इन सब से परे होना चाहिए और मानव जाति को समस्त अवयवों तथा इन्द्रियों से युक्त एक ऐसा विशाल जन्तु समझना चाहिए जो प्रकाश की ओर धीरे धीरे बढ़ता आरहा हो, एक प्रकाश का ऐसा अद्भुत वृक्ष है, जो धीरे धीरे उस अद्भुत सत्य पर, जो ईश्वर नाम से विख्यात है, अपने आपको प्रस्फुटित कर रहा है। इस दिशा की ओर उसका पहला घेरा, पहली प्रदक्षिणा, सदा ही मूर्ति तथा उपासना की सहायता से हुआ करती है।

समस्त विधि अनुष्ठानों के मध्य में एक ही भावना उपस्थित होती है, जो अन्य समस्त विचारों में प्रधान है। वह है नाम की पूजा। जिन लोगों ने बाइबिल का 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' पढ़ा होगा, जिन लोगों ने संसार के धर्मों का अध्ययन किया होगा, संभवतः उन सभी का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ होगा कि नाम की उपासना की महत्ता हर एक धर्म में वर्तमान है। नाम बड़ी पवित्र वस्तु माना गया है। बाइबिल में भी लिखा है कि ईश्वर के नाम के समान पवित्र वस्तु संसार में और नहीं है। संसार में जितनी भी वस्तुएँ हैं, ईश्वर का नाम उन सभी से पवित्र है। हर एक नामों में ईश्वर का नाम ही सबसे पवित्र है और यह नाम ही ईश्वर है। यह बात बिलकुल सच है।

नाम और रूप के अतिरिक्त यह विश्व और कुछ नहीं है। क्या आप शब्द के बिना किसी विषय का विचार कर सकते हैं? शब्द और विचार दोनों ही अभिन्न हैं। ये दोनों ही एक दूसरे से पृथक नहीं किये जा सकते। यदि इन दोनों में भिन्नता संभव हो तो एक को दूसरे से भिन्न करने की चेष्टा कीजिये। जिस समय आप किसी विषय पर विचार

करते हैं, तब शब्द रूपी आकार के द्वारा करते हैं। शब्द और विचार का ऐसा अकाट्य सम्बन्ध है कि एक दूसरे को खींच ही लाता है। शब्द विचार को खींच लाता है और विचार शब्द को। इससे सिद्ध है कि यह सुविशाल विश्व ईश्वर की वाह्य प्रतिमा है और इसी के अंतराल में ईश्वर का महिमामय नाम वर्तमान है, हर एक विशिष्ट शरीर एक मूर्ति है और उस विशिष्ट शरीर की आड़ में उसका नाम। जब कभी आप अपने किसी मित्र का स्मरण करते हैं, तब आपके मन में उस शरीर की भावना आती है और शरीर की भावना के उदय होते ही उसके नाम की भावना का भी उदय होता है। यह बात मनुष्य के मन की स्वाभाविक अवस्था में है।

मनोवैज्ञानिक ढंग से यह कहना पड़ेगा कि मनुष्य के मन की प्रकृति में रूप की भावना के बिना नाम की भावना नहीं आ सकती और नाम की भावना के बिना रूप की भी भावना नहीं आसकती। ये दोनों ही एक दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते। ये दोनों एक ही तरङ्ग के वाह्य तथा आभ्यन्तरिक भाग हैं। समस्त संसार के नामों की महत्ता भी स्थापित हो गई है और सर्वत्र उसकी पूजा होती है। मनुष्य ने नाम की महिमा को जान लिया है। उसके अतिरिक्त हम यह भी देखते हैं कि भिन्न भिन्न कर्मों में पवित्र एवं निष्पाप व्यक्तियों की भी पूजा की जाती है। कहीं कृष्ण को पूजा होती है, कहीं बुद्ध की पूजा होती है, कहीं यीशु की पूजा होती है और कहीं किसी दूसरे ही पवित्र एवं महिमाशाली व्यक्ति की उपासना की जाती है। इन महापुरुषों—अवतारों—के बाद सन्तों का दर्जा आता है। समस्त संसार में सैकड़ों ऐसे सन्त हुए हैं, जनता जिन्हें श्रद्धा के साथ पूजती है। पूजना उचित ही है।

प्रकाश का स्पन्दन सर्वत्र होता है। उल्लू अंधकार में ही देखता है। इससे प्रकट होता है कि अन्धकार में भी प्रकाश का स्पन्दन वर्तमान है, यद्यपि वहाँ मनुष्य नहीं देख सकता। मनुष्य को तो प्रकाश का

स्पन्दन केवल दीपक, सूर्य, चन्द्रमा तथा तारा आदि में ही दृष्टिगोचर हो सकता है। ईश्वर सर्वव्यापी है। वह अपने आपको प्रत्येक सत्ता—प्रत्येक प्राणी में व्यक्त कर रहा है। परन्तु मनुष्य के लिये वह तभी दृष्टिगम्य हो सकता है, जब कि उसकी ज्योति, उसकी सत्ता, उसकी आकृति एवं जीवन मनुष्य की मुखाकृति के द्वारा देदीप्यमान हो। तब, केवल तभी मनुष्य उस परमात्मा को, जो चराचर में व्याप्त है, समझ सकेगा।

इस प्रकार मनुष्य सदा ही मनुष्य की पूजा के द्वारा ईश्वर की पूजा किया करता था और तब तक वह ऐसा ही करता रहेगा, जब तक कि वह मनुष्य रहेगा। इस प्रथा के विरुद्ध वह तरह तरह की युक्तियाँ उपस्थित करता रहेगा, इस विषय में वह अपना विरोध प्रकट करता रहेगा, परन्तु जब वह ईश्वर की साधना के लिये प्रयत्न करेगा तब उसे ज्ञात होगा कि ईश्वर का मनुष्य के रूप में ध्यान करने की आवश्यकता विधि में बिलकुल अनुकूल है। इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि ईश्वर की उपासना में तीन वस्तुयें प्रत्येक धर्म में वर्तमान हैं—कर्मकाण्ड या प्रतिमा, नाम और ईश्वर के भक्त यानी सन्त। संसार में जितने भी धर्म हैं, उन सभी में इन तीनों का अस्तित्व है। परन्तु फिर भी आप उन सभी धर्मों के अनुयायियों को अन्य धर्मावलम्बियों से लड़ते हुए पाते हैं।

एक व्यक्ति कहता है कि मैं जिस नाम से ईश्वर को पुकारता हूँ, वही उसका वास्तविक नाम है, जिस विधि से मैं उसकी उपासना करता हूँ, वही वास्तविक विधि है और मेरे ही सन्त वास्तव में सन्त हैं, दूसरे लोग इस सम्बन्ध में मानते हैं, वह सब तो केवल कपोल-कल्पना है। ईसाई पादरी वर्तमान युग में कुछ अधिक सभ्य हो गये हैं। वे लोग अब कहने लगे हैं कि प्राचीन धर्मों में उपासना के जितने भी भिन्न भिन्न प्रकार थे वे सभी ईसाई धर्म के पूर्वाभास थे। बात यह है कि यह लोग ईसाई धर्म को ही सच्चा धर्म मानते हैं। प्राचीन काल में इन समस्त

वस्तुओं को एक आकार में ढालने में ईश्वर ने स्वयं अपनी तथा अपनी शक्ति की परीक्षा की थी। यही वस्तुयें आगे चलकर ईसाई धर्म में पराकाष्ठा को पहुँच गईं। कम से कम यह बड़ी उन्नति है। आज से ४० पहले तो वे लोग इतना भी नहीं कहते थे। तब तो वे लोग यही कहा करते थे, कि ईसाई धर्म के अतिरिक्त संसार में दूसरा कोई भी सच्चा धर्म नहीं है।

इस तरह की भावना किसी भी एक धर्म, जाति या सम्प्रदाय के अन्तर्गत परिसीमित नहीं है। सभी धर्म, सम्प्रदाय और जाति के लोग यही सोचा करते हैं कि जिस पद्धति का अनुसरण हम स्वयं करते हैं, वही दूसरों के लिये भी मान्य है। मेरी पद्धति, मेरे धर्म को छोड़ कर संसार में और कोई भी वस्तु मान्य नहीं है। परन्तु भिन्न भिन्न धर्मों का अध्ययन करने पर प्रत्येक धर्म के सिद्धान्तों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर हमारी यह धारणा नहीं रह सकेगी। इस प्रकार के अध्ययन से हमें ज्ञात होगा कि जिन विचारों को हम एक मात्र अपना ही समझते हैं, वे ही विचार दूसरे धर्मों में, दूसरे सम्प्रदायों में भी आज से सैकड़ों वर्ष पहले ठीक हमारे ही यहाँ की तरह, बल्कि हमारे यहाँ से भी अधिक विकसित रूप में, विद्यमान थे।

ये सब भक्ति के बाह्य रूप हैं जिनमें होकर मनुष्य को पार होना पड़ता है। परन्तु यदि उसका हृदय निष्कपट हुआ, यदि वास्तव में वह सत्य की उपलब्धि के लिये इच्छुक हुआ तो वह इन सब नियमों तथा पद्धतियों को पार करके एक ऐसे क्षेत्र में पहुंच जाता है जहाँ यह मूर्ति यह विधि अनुष्ठान नगण्य हो जाता है। मंदिर और गिरजा, धर्मग्रन्थ और कर्मकांड तो केवल धर्म की प्रारम्भिक कक्षा हैं। ये सब साधारणतः आध्यात्मिक शिशु को पालन पोषण करके उसको आगे की ओर पैर बढ़ाने में समर्थ भर कर देते हैं। किसी भी व्यक्ति के लिये, जिसे धर्म की अभिलाषा हो; इस प्रथम सोपान का पार करना आवश्यक है। यदि

ईश्वर की प्राप्ति के लिये मनुष्य का हृदय विकसित हुआ, यदि मनुष्य के हृदय में ईश्वर की प्राप्ति के लिये वास्तविक अभिलाषा हुई, तभी वास्तविक श्रद्धा, वास्तविक भक्ति की उत्पत्ति होती है।

अब प्रश्न यह उदय होता है कि अभिलाषा किसे है ? मत मतान्तर, सिद्धान्त या बुद्धि सम्बन्धी तर्क-वितर्क तथा युक्ति आदि धर्म नहीं हैं। धर्म तो स्वयं उत्पन्न हुई मन की एक प्रकार की वृत्ति है। यह तो हृदय में धारण करने की, अनुभव करने की वस्तु है। कितने ही लोगों से हम धर्म, ईश्वर तथा आत्मा और विश्व के समस्त रहस्यों आदि के सम्बन्ध में तरह तरह की बातें सुना करते हैं, परन्तु जितने लोग इस तरह की वक्तृतायें झाड़ते फिरते हैं, उनमें से एक एक के पास जाकर पूछिये कि क्या आपने ईश्वर की अनुभूति प्राप्ति की है ? क्या आपको ईश्वर का ब्रह्म का प्रत्यक्ष हुआ है ? क्या आपको आत्मदर्शन मिला है ? कितने ऐसे व्यक्ति हैं जो इन प्रश्नों के उत्तर में हाँ कह सकेंगे ? इतने पर भी ये सब धार्मिकता का दम भर कर एक दूसरे के साथ वाग्युद्ध किया करते हैं।

एक बार भारत में भिन्न भिन्न सम्प्रदायों का एक सम्मेलन हुआ था। उस सम्मेलन में प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। वाद विवाद आरंभ होने पर किसी ने कहा—मनुष्य मात्र के उपास्य देवता एक मात्र शिव हैं, तो दूसरे ने कहा—नहीं, विष्णु ही संसार में सर्वश्रेष्ठ देवता हैं, किसी अन्य देवता की उपासना से मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता। इसी तरह अन्यान्य व्यक्तियों ने भी अपने अपने उपास्य देवता की महिमा का प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया। इतने में वहीं से होकर एक महात्मा जा रहे थे। लोगों ने उन्हें बुलाकर इस विवाद में अध्यक्ष बनने की प्रार्थना की। महात्मा जी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और जो व्यक्ति शिव को सबसे श्रेष्ठ देवता बतला रहा था, उसे बुला कर पूछा—क्या आपने शिव जी को देखा है ? क्या

आप उनसे परिचित हैं ? यदि आपने उनका दर्शन नहीं किया है और उनसे परिचित नहीं हैं, तब भला आपको यह कैसे मालूम हुआ कि शिवजी ही सबसे महान हैं ?

बाद को उक्त महात्मा जी ने विष्णु के भक्त को संबोधित किया और उनसे पूछा—क्या आपको विष्णु भगवान का दर्शन मिला है ? इस प्रकार के प्रश्नोत्तर से यह ज्ञात हुआ कि वहाँ पर विवाद के लिये जितने भी व्यक्ति उपस्थित थे, उनमें से किसी को भी ईश्वर के संबन्ध में किसी प्रकार का ज्ञान नहीं था। यदि उन्हें ज्ञान होता तो वे विवाद ही न छेड़ते। किसी सुराही को जब आप पानी से भरने लगते हैं तब उसमें शब्द होता है परन्तु जब वह लबालब भर जाती है तो उसमें से शब्द नहीं निकलता। ठीक इसी प्रकार भिन्न भिन्न जाति एवं संप्रदाय के व्यक्ति धर्म के संबन्ध में जो परस्पर वादविवाद एवं कलह करते हैं, उससे ज्ञात होता है कि ये लोग धर्म को जरा भी नहीं समझते। ऐसे लोगों की दृष्टि में धर्म-पोथियों में लिखे जाने वाले निःसार शब्दों का समूह भरा है।

हर एक व्यक्ति पुस्तकें लिखने के लिये व्यग्र रहता है और जितनी पुस्तकें उसके हाथ में आती हैं, उन सब में से सामग्री चुरा चुरा कर अपनी पुस्तक का कलेवर बढ़ाने में कोई भरसक उठा नहीं रखता है। मज़े की बात तो यह है कि इस श्रेणी के लोग जिस पुस्तक की सामग्री लेते हैं, उसके रचयिता के प्रति कृतज्ञता भी नहीं प्रकट करते। इस प्रकार तैयार होकर वे पुस्तकें बाजार में आने पर संसार में प्रायः पहले से ही फैली हुई अशान्ति को और भी बढ़ाती हैं।

संसार में अधिकांश लोग नास्तिक हैं। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि वर्तमान युग में पाश्चात्य संसार में नास्तिकों की एक नई श्रेणी निकली है। इस श्रेणी से मेरा तात्पर्य है जड़वादियों से। वे लोग सच्चे नास्तिक हैं। जो लोग धर्म के संबन्ध में संदेहरहित नहीं हैं, जो लोग

चारों ओर धर्म के सम्बन्ध में बातचीत या विवाद करते फिरते हैं, परन्तु फिर भी धर्म में उनका प्रेम नहीं होता, उसका अनुभव करने या उसका रहस्य समझने का कभी प्रयत्न नहीं करते, इन सब की अपेक्षा उस श्रेणी के नास्तिक कहीं अच्छे हैं। योशु के शब्दों को स्मरण कीजिए। उन्होंने कहा है—माँगो, वह चीज तुम्हें दी जायगी, खोजो तुम पा जाओगे। धक्का दो, दरवाजा तुम्हारे लिये खुल जायगा। ये शब्द अक्षरशः सत्य हैं इनमें जरा भी अलङ्कार या कल्पना नहीं है। ये शब्द क्या हैं—ईश्वर के एक सर्वश्रेष्ठ पुत्र के हृदय के उच्छ्वास हैं। ये शब्द क्या हैं चिरकाल की साधना के फल हैं। ये शब्द एक ऐसे महापुरुष के मुख से निकले हैं जिसने ईश्वर का अनुभव एवं प्रत्यक्ष किया है, जिसने ईश्वर से संलाप किया है, जिसे ईश्वर के सहवास का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है। वह सहवास भी एक बार या दो बार नहीं बल्कि हम आप जितनी बार भी इस मन्दिर या गिरजे का दर्शन करते हैं उससे सैकड़ों गुना अधिक बार। प्रश्न यह है कि ईश्वर की चाह किसे है? क्या आप समझते हैं कि संसार में जितने भी मनुष्य हैं, वे सभी ईश्वर की प्राप्ति के लिये इच्छुक हैं, किन्तु उसे प्राप्त नहीं कर सकते? ऐसा नहीं हो सकता। मनुष्य के हृदय की कौन सी ऐसी इच्छा है, जिसका विषय बाह्य जगत में न हो? मनुष्य साँस लेना चाहता है, इससे उसे साँस लेने के लिये वायु सदा वर्तमान रहती है। मनुष्य को भोजन की इच्छा होती है, और उसकी बुभुक्षा की निवृत्ति के लिये भोजन भी तैयार रहता है। अभिलाषाओं की सृष्टि करने वाला कौन है? बाह्य जगत् में जितनी भी वस्तुयें वर्तमान हैं उन्हीं के कारण हमारी इच्छाओं की सृष्टि होती है। एक मात्र प्रकाश ने ही नेत्रों की सृष्टि की है, शब्द ने ही कान को बनाया है। इस प्रकार मानव जाति के हृदय में जितनी भी इच्छायें उत्पन्न होती हैं, उन सभी का उत्पत्ति-कारण कोई न कोई ऐसी वस्तु अवश्य होती है जो बाह्य जगत् में वर्तमान हो। ऐसी परिस्थिति में मनुष्य के हृदय में जब पूर्णता प्राप्त करने की इच्छा

उत्पन्न होती है, मनुष्य जब लक्ष्य पर पहुँचने के लिये, प्रकृति से परे होने के लिये, इच्छुक होता है तब उसका कोई न कोई प्रयोजक अवश्य होना चाहिये। बात यह है कि इस अभिलाषा को मनुष्य के अन्तस्तल में उत्पन्न करनेवाली, उसकी आत्मा में कोंच कोंच भर देनेवाली तथा उसे सजीव रखने वाली यदि कोई शक्ति न होती तो इस तरह की अभिलाषा कभी उत्पन्न ही नहीं हो सकती थी। इससे सिद्ध है कि जिस किसी के भी मन में ईश्वर को प्राप्त करने की इच्छा जाग्रत हो गई, वह अपने लक्ष्य पर, मानव जीवन के विकास की चरम सीमा पर पहुँच गया। संसार की समस्त विभूतियों को प्राप्त करने की हमारी इच्छा होती है परन्तु ईश्वर की प्राप्ति के लिये नहीं। आप अपने आसपास धर्म के नाम पर जो कुछ होते देखते हैं, वास्तव में वह सब धर्म नहीं है। मान लीजिये, किसी भद्र महिला की बैठक में सभी देशों की बनी हुई गृहसज्जा की सामग्रियाँ वर्तमान हैं। वर्तमान युग में जापान की भी कोई न कोई वस्तु रखने का फ़ैशन हो गया है; इससे वह एक पुष्पदान ख़रीद कर बैठक में रख लेती हैं। बहुत कुछ यही बात धर्म के सम्बन्ध में भी है। लोग अपने आमोद-प्रमोद के लिये जहाँ तरह तरह की सुखदायक और मनोरंजक सामग्रों का संग्रह किया करते हैं वहीं यदि ज़रा सा धर्म का स्वाद न मिला हो तो उनका जीवन ही न ठीक हो। क्योंकि समाज उनकी निन्दा करेगा। समाज प्रत्येक व्यक्ति से इस बात की आशा करता है कि वह किसी न किसी धर्म का अनुयायी बने। यही कारण है कि लोग धर्म का आश्रय ग्रहण किया करते हैं। संसार में धर्म की यही वर्तमान अवस्था है।

एक जिज्ञासु अपने गुरु के पास गया और उनसे कहा—महाराज, मैं धर्म प्राप्त करना चाहता हूँ। गुरु जी उस युवक जिज्ञासु की ओर देखकर ज़रा सा मुस्करा भर दिये, मुँह से कुछ बोले नहीं। उस दिन से युवक प्रतिदिन ही आता और धर्म प्राप्ति के लिये आग्रहपूर्वक निवेदन किया करता। परन्तु गुरु जी बड़े ही चतुर थे, वे प्रतिदिन ही युवक को टाल

दिया करते थे। एक दिन धूप बड़ी तेज़ थी। गर्मी के मारे चित्त व्यग्र हो रहा था। उसी समय युवक फिर आया और गुरु जी से धर्म की प्राप्ति का उपाय पूछने लगा। गुरु जी ने युवक से कहा—अच्छा, आओ चलें, नदी में स्नान कर आवें। गुरु की आज्ञानुसार युवक नदी-तट पर गया और पहुँचते ही जल में कूद कर गोता लगाया। युवक के पीछे ही गुरु जी भी कूद पड़े। युवक गोता लगाये ही था कि गुरु जी ने उसे ज़ोर से दबा लिया। उसे वे बड़ी देर तक पानी के नीचे दबाये रहे। ज़रा देर तक छटपटाने के बाद गुरु जी ने युवक को छोड़ दिया। युवक ने जब पानी से ऊपर शिर निकाला तब गुरु जी ने उससे पूछा कि जब तक तू पानी में डूबा था, तुझे किस चीज़ की सब से अधिक आवश्यकता मालूम पड़ रही थी? युवक ने उत्तर दिया कि साँस लेने के लिये ज़रा सी हवा की। यह सुन कर गुरु जी ने पूछा—उस समय हवा के लिये तू जितना व्यग्र था, क्या तुझे उतनी ही व्यग्रता ईश्वर के लिये भी है? यदि तुझे ईश्वर की प्राप्ति के लिये भी वैसी ही उत्कण्ठा है, तो उसे एक क्षण में पा जायगा। परन्तु जब तक तुझे उस तरह की उत्कण्ठा, उस तरह की पिपासा न होगी, तू धर्म को, ईश्वर को प्राप्त करने में समर्थ न हो सकेगा, चाहे अपनी बुद्धि को कितना ही क्लेश क्यों न दे, चाहे कितनी ही पुस्तकें क्यों न रट डाल, चाहे जीवन-पर्यन्त कितना ही पूजा-पाठ क्यों न करता रह, ईश्वर की प्राप्ति के लिये जब तक उस तरह की पिपासा न उत्पन्न हो जाय, तब तक तू एक नास्तिक के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। नास्तिक में और तुझमें अन्तर यह है कि नास्तिक की भावना दृढ़ है और तू सन्देह में पड़ा है।

एक बहुत बड़े ऋषि थे। वे कहा करते मान लीजिये कि किसी कमरे में एक चोर बैठा है। उसे यदि किसी तरह पता चल जाय कि पास वाले कमरे में अपरिमित स्वर्ण राशि भरी है। दोनों कमरों के बीच की दीवार भी इतनी मोटी और दृढ़ नहीं है कि उसमें नकब लगाने में कठिनाई

पड़ेगी। उस समय चोर की क्या दशा होगी? उसे नींद न आवेगी। न तो वह भोजन कर सकेगा और न किसी दूसरे ही काम में उसका चित्त लगेगा। उसका मस्तिष्क बराबर इसी चिन्ता में लगा रहेगा कि यह सोना किस तरह मेरे हाथ लग सके। ऐसी परिस्थिति में संसार में जितने भी मनुष्य हैं, उन सब को यह विश्वास हो जायगा कि वास्तविक सुख का, परमानन्द का, ऐश्वर्य का आगार वर्तमान है, तो क्या वे सब उस ऐश्वर्य परमानन्द ईश्वर की प्राप्ति के लिये किसी तरह का उद्योग न करके केवल संसार के तुच्छ सुखों के ही फेर में पड़े रह जाते? जैसे ही किसी के हृदय में ईश्वर के प्रति विश्वास उत्पन्न होने लगता है, वैसे ही वह उसकी प्राप्ति के लिये उन्मत्त हो उठता है। दूसरे लोग अपनी अपनी राह चले जायँगे। परन्तु किसी व्यक्ति को जैसे ही इस बात का निश्चय हो जायगा कि यहाँ हम जीवन का जो उपयोग कर रहे हैं, उससे भी अधिक महत्व का, अधिक सुखमय कोई जीवन है, जैसे ही वह निश्चित रूप से यह अनुभव करने लगेगा कि यह इन्द्रिय सुख ही सब कुछ नहीं है, जब उसके हृदय में यह धारणा बद्धमूल हो जायगी कि यह तुच्छ भौतिक शरीर आत्मा के उस अविनाशी शाश्वत और अपरिसीम सुख की तुलना में कुछ भी नहीं है, तब वह उस अनन्त सुख को जब तक नहीं प्राप्त कर लेता तब तक पागल हुआ रहता है। यह उन्माद ही, यह पिपासा ही, यह अत्यासक्ति ही वह वस्तु है, जो कि धर्म के उद्बोधन के नाम से अभिहित है। यह उद्बोधन आते ही मनुष्य धार्मिक होने लगता है। परन्तु इसके लिये बहुत समय अपेक्षित है। यह सब मूर्ति-पूजा, पाठ, विधि, अनुष्ठान, स्तुति, तीर्थयात्रा, धर्मग्रन्थ, घंटा, आरती तथा पुरोहित आदि तो प्रारम्भिक उपक्रम हैं, ये सब आत्मा की सारी अपवित्रता, सारा कल्मष नष्ट कर देती हैं। आत्मा जब निष्पाप एवं पवित्र हो जाता है तब वह अपने आप पवित्रता के आगार, साक्षात् परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के लिये सचेष्ट होता है। मान लीजिये कि चुम्बक के समीप ही लोहे का एक

टुकड़ा पड़ा है। उसमें सदियों का मुर्चा लगा है। उस मुर्चे के ही कारण चुम्बक आकर्षित नहीं करता। परन्तु मुर्चे के छूट जाने पर, जैसे हो वह लोहा साफ़ हो जाता है, वैसे ही चुम्बक उसे आकर्षित कर लेता है। इसी तरह मनुष्य की आत्मा, जो कई युगों की मलिनता, अपवित्रता, दुराचार तथा तरह तरह के पापों से आच्छादित रहता है, जन्म-जन्मान्तर में इस मूर्तिपूजा, क्रिया कर्म, परोपकार तथा अन्यान्य प्राणियों के प्रति स्नेह करने से पवित्र हो जाता है, तब इसका—अध्यात्म का स्वाभाविक आकर्षण आता है आत्मा उद्बुद्ध होती है और ईश्वर की प्राप्ति के लिये व्यग्र-भाव प्रयत्न करने लगता है।

यह मूर्तिपूजा तथा क्रिया कर्म आदि ईश्वर की प्राप्ति का केवल प्रारम्भिक प्रयत्न है, यह सब ईश्वर के प्रति सच्चा प्रेम नहीं है। यहाँ हम सर्वत्र प्रेम शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति यह कहा करता है कि ईश्वर से प्रेम करो। परन्तु लोग यह नहीं जानते कि ईश्वर से किस प्रकार प्रेम किया जाता है। यदि उन्हें यह ज्ञात होता तो इस सम्बंध में चारों ओर बड़बड़ाते न फिरते। प्रत्येक व्यक्ति यह कहता है कि मैं प्रेम कर सकता हूँ, परन्तु ज़रा ही देर में उसे ज्ञात होता है कि मेरी प्रकृति में प्रेम नहीं है। प्रत्येक स्त्री कहती है कि मैं प्रेम कर सकती हूँ किन्तु शीघ्र ही उसे ज्ञात होता है कि इस विषय में मैं असमर्थ हूँ। प्रेम की चर्चा सारे संसार में फैली है। कोई भी ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ प्रेम का गुण गान न किया जाता हो, प्रेम की डींग न हाँकी जाती हो। परन्तु प्रेम करना बड़ी कठिन बात है। प्रेम है कहाँ? आप कैसे समझ सकते हैं कि अमुक स्थान पर प्रेम है? प्रेम की पहली परीक्षा यह है कि यह सौदा करना नहीं जानता। आप जब तक किसी व्यक्ति को दूसरे से इसलिये प्रेम करते देखें कि इससे अपने प्रेम के बदले में कुछ प्राप्त करूँ, समझ लेना चाहिये कि यह प्रेम नहीं है, यह तो दूकानदारी है। जहाँ कहीं बेचने या ख़रीदने का कोई प्रश्न हो अर्थात् कोई व्यक्ति अपनी किसी आशा की पूर्ति के

लिये किसी से प्रेम करता है तो उसका वह प्रेम प्रेम नहीं है। इस प्रकार जो व्यक्ति भगवान से प्रार्थना करता है कि मुझे अमुक वस्तु दीजिये, मेरी अमुक कामना पूर्ण कीजिये, तब उसका वह भाव प्रेम नहीं है। यह प्रेम कैसे हो सकता है। हम भगवान की स्तुति करते हैं और उसके बदले में उनसे कुछ माँगते हैं। यह तो पूरी दूकानदारी है।

एक बड़ा प्रतापी राजा शिकार के लिये बन में गया। वहाँ संयोग-वश एक ऋषि से उसकी भेंट हो गई। ज़रा देर की बातचीत से ही राजा ऋषि से इतने संतुष्ट हुए कि उनके मन में ऋषि को कुछ उपहार देने की इच्छा उत्पन्न हुई और उसे स्वीकार करने के लिये वे उनसे प्रार्थना करने लगे। परन्तु ऋषि राजा की इस बात से सहमत न हुए। उन्होंने कहा—राजन्! मैं आपका उपहार लेकर क्या करूँगा? क्षुधा-निवृत्ति के लिये इन वृक्षों से मुझे यथेष्ट फल मिल जाते हैं और इन स्रोतों का पवित्र जल पी कर पिपासा निवृत्त कर लेता हूँ। कन्दराओं में सो जाता हूँ। अपने जीवन से बिलकुल संतुष्ट हूँ। यद्यपि आप एक चक्रवर्ती हैं और सब कुछ देने में समर्थ हैं, परन्तु करूँ क्या, मेरी कोई भी ऐसी आवश्यकता नहीं है कि आपके दान से उसकी पूर्त्ति करूँ।

ऋषि की इन बातों के उत्तर में राजा ने बहुत ही विनीत भाव से कहा कि भगवन्; यह मैं जानता हूँ कि मेरे दान की आप को कोई आवश्यकता नहीं है, मेरा यह विशाल साम्राज्य आपके लिये धूलि-कण के समान तुच्छ है, किन्तु मुझे तो श्री-चरणों की कुछ सेवा किये बिना संतोष नहीं है। केवल मुझे पवित्र करने के लिये, मेरा जीवन सफल बनाने के लिये, मेरे साथ मेरे नगर में चलने की कृपा कीजिये। बहुत कुछ कहने सुनने के बाद अन्त में ऋषि ने राजा की प्रार्थना स्वीकार कर ली। वे राजा के साथ साथ राजप्रासाद में गये। सारा प्रासाद सोना, हीरा, मोती, तथा तरह तरह के बहुमूल्य पत्थरों तथा मणियों से सुसज्जित था। वहाँ ऋषि को

एक से एक अपूर्व वस्तु देखने को मिली। जहाँ कहीं भी वे दृष्टि डालते, वहीं विभव और प्रताप की छटा दिखाई पड़ती।

राज भवन में पहुँचने पर राजा ने ऋषि से निवेदन किया कि आप ज़रा देर ठहरिये, मैं भगवान की स्तुति करके शीघ्र ही सेवा में उपस्थित होता हूँ। ऋषि की आज्ञा लेकर राजा किसी एकान्त स्थान में चले गये और भगवान की स्तुति करने लगे। उनकी स्तुति का सारांश इस प्रकार है—भगवन्, मुझे धन और विभव दीजिये, और पुत्र दीजिये, और राज्य दीजिये, इत्यादि। उधर राजा की स्तुति समाप्त होने से पहिले ही ऋषि उठ कर चल पड़े। उन्हें जाते देखकर राजा उनके पीछे पीछे दौड़े। उन्होंने ऋषि को पुकार कर कहा—भगवन्, ज़रा सा ठहरिये। आपने मेरा उपहार नहीं स्वीकार किया और यों ही चल पड़े। तब राजा की ओर घूम कर ऋषि ने कहा—ऐ भिक्षुक, जो स्वयं याचक है, उसके सामने मैं हाथ नहीं फैलाता। भला तू मुझे क्या दे सकेगा? तू तो स्वयं सदा याञ्चा करता रहता है। यह प्रेम की भाषा नहीं है। ईश्वर में तेरा जो अनुराग है, उसके बदले में यदि तू तरह तरह की वस्तुयें माँगता है तो भला प्रेम और व्यापार में अन्तर ही क्या है? प्रेम की पहली परीक्षा यह है कि यह सौदा करना नहीं जानता। प्रेम सदा ही दान देने को तैयार रहता है। किसी से कुछ लेता नहीं। ईश्वर का जो पुत्र है, उसकी वाणी यह है—यदि ईश्वर चाहता तो उसे मैं अपना सर्वस्व दे सकता हूँ, किन्तु उससे मुझे स्वयं कुछ लेना नहीं है। इस विश्व में मुझे किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं है। मैं उससे प्रेम करता हूँ क्योंकि प्रेम करने को मेरा जी चाहता है। इस प्रेम के बदले में मैं उसकी किसी प्रकार की कृपा का अभिलाषी नहीं हूँ। ईश्वर सर्वशक्तिमान है या नहीं, इस बात की परवा किसे है? मैं उससे न तो कोई शक्ति प्राप्त करना चाहता हूँ और न मेरी यही लालसा है कि वह अपनी किसी प्रकार की शक्ति का प्रदर्शन करे। मेरे लिये तो इतना ही यथेष्ट है कि वह प्रेम का स्वामी है, इसके अतिरिक्त मैं कुछ नहीं पूछता।"

दूसरी परीक्षा यह है कि प्रेम भय नहीं जानता। जब तक मनुष्य ईश्वर का अनुभव एक ऐसी सत्ता के रूप में करता है कि वह बादलों के ऊपर एक हाथ में पुरस्कार और दूसरे में दण्ड लिये बैठा है, तब तक प्रेम नहीं होता। आपसे जिसे प्रेम होगा क्या उसे आप कभी भयभीत कर सकते हैं? क्या भेड़ का बच्चा सिंह से प्रेम करता है? क्या चूहा बिल्ली से प्रेम करता है? क्या दास स्वामी से प्रेम करता है? दास भी कभी कभी अपने स्वामी के प्रति प्रेम का प्रदर्शन करते हैं। परन्तु क्या वह वास्तव में प्रेम है? कोई भी ऐसा स्थल है जहाँ आपको सदा प्रेम में भय का प्रदर्शन मिलता हो? जहां कहीं भी ऐसा है, वह प्रेम नहीं है, वह तो एक तरह की चाल है, प्रवंचना है। प्रेम के साथ भय की भावना आती ही नहीं। कल्पना कीजिये कि एक अठारह बीस वर्ष की स्त्री है। रास्ते से वह कहीं जा रही है। कोई कुत्ता ज़ोर से भूँकता हुआ उसकी ओर दौड़ता है, तब वह डर कर उतावली के साथ भागती है और पहिले जो मकान मिलता है, उसी में वह घुस जाती है। दूसरे दिन वही स्त्री अपने बच्चे को लेकर फिर सड़क पर निकली और एक शेर उसके बच्चे पर टूट पड़ा। तब भला उसकी क्या दशा होगी? अपने बच्चे की रक्षा करते करते वह सिंह के मुँह तक चली जायगी। प्रेम उसके सारे भय को जीत लेगा। ईश्वर के प्रेम के सम्बन्ध में भी यही बात है। किसे इस बात से मतलब है कि ईश्वर दण्ड या पुरस्कार का देने वाला है। प्रेमी की यह भावना नहीं है। एक जज के सम्बन्ध में विचार कीजिये। जन-साधारण पर उसका कितना आतङ्क रहता है। परन्तु जब वह कचहरी से अपने बँगले में आता है तब उसकी स्त्री उसमें कौन सी बात देखती है? उसकी स्त्री के हृदय में उसके प्रति जज की भावना नहीं होती। उसे वह इस रूप में नहीं देखती कि ये दण्ड या पुरस्कार के देने वाले हैं। वह तो उसे इसी रूप में देखती है कि ये मेरे पति हैं, मेरे प्रेम के आधार हैं। उसके प्रति उसकी संतानों की क्या भावना होगी? उनकी दृष्टि में वह उनका स्नेह-मय

पिता ही रहेगा। दण्ड या पुरस्कार का देने वाला नहीं। इसी प्रकार जो ईश्वर की संतान हैं, उनकी दृष्टि में वह दण्ड या पुरस्कार देने वाला कभी नहीं है। केवल वे ही व्यक्ति भयभीत होते और थर्राते हैं, जिन्होंने प्रेम का कभी आस्वादन नहीं किया है। सारा भय दूर कर दीजिये। ईश्वर दण्ड और पुरस्कार दोनों ही का देने वाला है, इस तरह की भयंकर भावना में भले ही ऐसे लोगों के लिए कार्यकारी हो सकती हों, जिनका मस्तिष्क संयत नहीं है, जिनके हृदय में तरह तरह की असभ्यता पूर्ण भावनायें उत्पन्न होती रहती हैं किन्तु भक्त के लिये, ईश्वर-प्रेमी के लिये, इन सब का कोई उपयोग नहीं है। उसके हृदय में तो इस तरह की भावना उत्पन्न ही नहीं हो हो सकती। बहुत से लोग अत्यधिक प्रतिभाशाली होकर भी अपने मन को संयतशील नहीं कर पाते। उनका मन तरह तरह की दुर्वासनाओं के पीछे नाचता रहता है। ईश्वर-सम्बन्धी उपयुक्त भावना ऐसे लोगों के लिये सहायक हो सकती है। तात्पर्य यह है कि जो लोग कच्चे हृदय के हैं वे ईश्वर के दण्ड के भय से अपनी दुर्वासनाओं को रोक सकेंगे और पुरस्कार के लोभ से सत्कर्म में प्रवृत्त हो सकेंगे। परन्तु जिनकी आत्मा पवित्र है, जो लोग आध्यात्मिक हैं, जो धर्म के अत्यन्त सन्निकट होते जा रहे हैं, जिनके हृदय में आध्यात्मिक ज्ञान का प्रवेश हो चुका है, उनके लिये तो ये भावनायें केवल बचपन की हैं, मूर्खता-पूर्ण हैं, इस तरह के लोग भय की हर तरह की भावनाओं का परित्याग कर देते हैं।

तीसरी परीक्षा और भी अधिक उच्च कोटि की है। प्रेम सदा ही सब से अधिक महत्व का आदर्श है। जिस व्यक्ति ने उपयुक्त छोड़ रक्खी है और सब तरह से भय का परित्याग कर दिया है, तब वह यह अनुभव करने लगता है कि प्रेम सदा ही सब से महत्व का आदर्श रहा है। कितनी ही बार हम इस संसार में देखते हैं कि एक परम सुन्दरी किसी अत्यन्त कुरूप से प्रेम करती है। कितनी ही बार हम यह भी देखते हैं कि एक

बहुत रूपवान व्यक्ति किसी अत्यन्त कुरूपा स्त्री को प्यार करता है। इन प्रेमियों के लिये भला कौन सा आकर्षण रहता है? जो लोग उस भद्दे और बेडौल पुरुष तथा कुरूपा स्त्री को देखेंगे उन्हें तो उनकी कुरूपता के अतिरिक्त और कुछ भी न दिखाई पड़ेगा। परन्तु इनके प्रेमी या प्रणयिनी के लिये यह बात नहीं है। प्रणयी या प्रणयिनी की दृष्टि में तो उसका प्रणय-पात्र संसार की समस्त सुन्दर वस्तुओं से भी अधिक सुन्दर है।

जो स्त्री किसी कुरूप पुरुष से प्रेम करती है वह सौन्दर्य के उस आदर्श को ग्रहण करती है जो कि उसके मन में होता है और उसी आदर्श का उस पुरुष पर आरोप कर देती है। इस प्रकार वह कुरूप पुरुष से प्रेम या उसकी उपासना नहीं करती, बल्कि वह अपने आदर्श से प्रेम करती है और उसी की उपासना करती है। वह पुरुष तो केवल इङ्गित भर है। इस इंगित पर अपना आदर्श डाल कर इसे ढक देती है, बस, तब यह उसकी उपासना का पात्र बन जाता है। इसी प्रकार जहाँ कहीं भी हम किसी से प्रेम करते हैं यह बात लागू होती है। इसमें से बहुत से ऐसे लोग हैं जिनके भाई बहन सुन्दरता की दृष्टि से बहुत साधारण होते हैं, परन्तु फिर भी केवल भाई या बहन का नाता होने के कारण वे उन्हें सुन्दर जान पड़ते हैं।

इस विषय में वास्तविक कारण यह है। प्रत्येक व्यक्ति चाहे स्त्री हो या पुरुष, अपने आदर्श का आरोप कर लेता है और उसी की उपासना किया करता है। यह बाह्य संसार केवल संकेत का संसार है। यहाँ जो कुछ हम देखते हैं, उसे अपने मन से ही कल्पना करके ले आते हैं। जब कभी जल के प्रवाह के साथ कोई बालू का कण सीपी में प्रविष्ट हो जाता है तब वह उसे उद्दीप्त कर देता है। उस उद्दीपन के कारण सीपी में से एक प्रकार का रस निकलता है जो बालू के कण को आच्छादित कर लेता है। इस प्रकार वह बालू का कण सुन्दर मोती के रूप में निकल आता

ह और बड़े बड़े राजप्रासादों की शोभा बढ़ाया करता है। इसी तरह बाह्य जगत् की वस्तुयें हमें केवल संकेत भर प्रदान करती हैं, जिनके ऊपर अपने आदर्श का आरोप करके हम उसे अपना लक्ष्य बना लेते हैं दुराचारी की दृष्टि में यह संसार पूर्ण नरक है और सदाचारी की दृष्टि में पूर्ण स्वर्ग। प्रेमी इस संसार को प्रेम-मय देखते हैं तो घृणी-घृणा से परिपूर्ण। योद्धाओं की दृष्टि केवल युद्ध और कलह पर जाती है, शान्तिप्रिय सर्वत्र केवल शान्ति ही शान्ति देखता है। परन्तु जो व्यक्ति पूर्ण है, जिसमें सिद्धि की प्राप्ति की है, उसे सर्वत्र एकमात्र ईश्वर का दर्शन मिलता है और वह कुछ नहीं देखता। इस प्रकार हम सदा ही अपने सबसे ऊच आदर्श की उपासना किया करते हैं, और जब उस अवस्था में पहुँच जाते हैं कि आदर्श को आदर्श के रूप में उपासना करने लगते हैं, तब सभी प्रकार के तर्क और सन्देह अपने आप ही सदा के लिये अन्तर्हित हो जाते हैं।

कौन इस बात की परवा करता है कि ईश्वर प्रदर्शित किया जा सकता है या नहीं? हमारा आदर्श, हमारे मन की ध्येय वस्तु कभी जा नहीं सकती। यह तो स्वयं हमारी प्रकृति का ही एक भाग है। हम अपने आदर्श, अपने मन की ध्येय वस्तु के सम्बन्ध में तभी संदेह कर सकते हैं, जब कि स्वयं अपने अस्तित्व पर हमें सन्देह होने लगेगा। जब हम एक के सम्बन्ध में सन्देह नहीं कर सकते तब दूसरे पर भी सन्देह करना मेरे लिये सम्भव न होगा। किसे इस बात की परवा है कि ईश्वर एक साथ ही सर्व शक्तिमान एवं परम कारुणिक भी है या नहीं? कौन इस बात की अपेक्षा करता है कि ईश्वर मनुष्य जाति को पुरस्कार देने वाला है या नहीं? क्या वह हम सब को अत्याचार-मय दृष्टि से देखता है या परित्राण की कामना से प्रजापालक सम्राट की दृष्टि से देखता है? प्रेमी का इन सब बातों से कोई मतलब नहीं। वह तो इन सब बातों से परे हो जाता है। वह पुरस्कार और दण्ड, भय

और संदेह, वैज्ञानिक तथा अन्यान्य प्रदर्शनों से परे हो जाता है। उसके लिये तो उसके प्रेम का आदर्श ही यथेष्ट होता है। क्या यह स्वयं नहीं प्रत्यक्ष है कि विश्व प्रेम के प्रदर्शन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है? कौन सी ऐसी वस्तु है जो परमाणु को परमाणु और अवयव को अवयव से मिलाती है, साथ ही एक ग्रह को उड़ा कर दूसरे ग्रह की ओर ले जाती है? वह कौन सी वस्तु है जो एक पुरुष को दूसरे पुरुष की ओर, पुरुष को स्त्री की ओर, स्त्री को पुरुष की ओर, तथा पशु को पशु की ओर आकर्षित करती है, इस विश्व को एक केन्द्र की ओर खींचे लिये जा रही है? यह वही वस्तु है जो प्रेम के नाम से अभिहित है। इसका प्रकाश एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु से लेकर सर्वश्रेष्ठ सत्ता, सर्वशक्तिमान एवं सर्वव्यापी तक से होता है, यह प्रेम ऐसा है। जो कुछ समस्त, चेतन और अचेतन एवं साधारण और असाधारण से आकर्षण के रूप में प्रकाशमान होता है, वह ईश्वर का प्रेम है। यही एक ज्ञात शक्ति है, जो समस्त विश्व में विद्यमान है। उस प्रेम की शक्ति से ही प्रभावित होकर यीशुमसीह मानव जाति के लिये अपने जीवन का बलिदान करने पर तैयार हो गये। महात्मा बुद्ध ने तो एक पशु तक के लिये भी जीवन का उत्सर्ग कर देना अपना कर्त्तव्य समझा। इस प्रेम की शक्ति से ही आत्म अपनी संतान के लिये तथा पति पत्नी के लिये जीवन का उत्सर्ग करता है। यह भी उसी प्रेम का प्रताप है जो कि लोग अपनी मातृ-भूमि के लिये जीवन का बलिदान करने पर तैयार है। यह कहते आश्चर्य होता है कि इस प्रेम की ही बदौलत चोर चोरी करता है और प्रेम ही की बदौलत हत्यारा हत्या भी करता है। इन विषयों में भी शक्ति एक ही है, उसका प्रकाशन भर भिन्न प्रकार का है। विश्व में प्रेम ही एक मात्र ऐसी शक्ति है, जो सभी व्यक्तियों तथा वस्तुओं को परिचालित करती है। चोर को सोने से प्रेम है, इसलिये चोरी करता है। इस प्रकार इस चोरी का भी कारण प्रेम ही है।

किन्तु यहाँ प्रेम का दुरुपयोग किया गया है। संसार में जितने भी शुभाशुभ कर्म हैं, उन सभी की आड़ में यह शाश्वत प्रेम सदा विद्यमान रहता है। मान लीजिए कि अमरीका के न्यूयार्क नामक नगर में बैठकर कोई धनिक किसी निर्धन व्यक्ति को दान देने के लिये एक हजार डालर का चेक लिखता है। उस समय उसके साथ ही बैठकर अनुचित लाभ उठाने के लिए एक दूसरा व्यक्ति अपने मित्र का जाली दस्तख़त बनाता है। लिखा दोनों ने एक ही स्थान पर, एक ही कमरे में बैठकर, एक ही प्रकाश का दोनों ने उपयोग किया, परंतु जिसने जिस ढंग से उपयोग किया उसके लिये वह ज़िम्मेदार होगा। उन दोनों ही के लिखने के व्यापार में सहायता करने के कारण प्रकाश न तो प्रशंसा का पात्र है और न निन्दा का। किसी में आबद्ध न रह कर भी यह प्रेम सभी वस्तुओं में देदीप्यमान है। प्रेम ही एक मात्र ऐसी शक्ति है, जिसके प्रताप के सृष्टि के समस्त व्यापार परिचालित हैं। प्रेम एक ऐसी शक्ति है जिसके बिना यह विश्व एक क्षण में गिर कर खण्ड हो जाय। यह प्रेम ही ईश्वर है।

हे प्रिय, कोई भी स्त्री अपने पति के प्रति इसलिए नहीं प्रेम करती कि यह मेरा पति है। वह पति से प्रेम इसलिए करती है कि पति में उसका स्वार्थ रहता है। हे प्रिय, कोई भी पुरुष अपनी पत्नी को इसलिये प्यार नहीं करता कि यह मेरी पत्नी है। पत्नी में पुरुष का जो स्वार्थ होता है, उसीके कारण वह उसे प्यार करता है। स्वार्थ के बिना कोई भी कभी किसी से प्रेम नहीं करता। यह स्वार्थ-परता भी जो कि बहुत ही निन्दित है, फिर भी एक प्रकार का उसी प्रेम का प्रदर्शन है। इस खेल से दूर रहिए; इसमें सम्मिलित न होइए, परन्तु इस अद्भुत दृश्य को उस वृहत नाटक को देखिए जो एक एक कर के कितने ही दृश्यों में खेला जा रहा है, परन्तु फिर भी प्रत्येक दृश्य का तारतम्य बराबर बँधा हो, यह सब उस प्रेम का ही प्रदर्शन है। स्वार्थपरता में भी वह स्वयं बढ़ता जायगा, उत्तरोत्तर वृद्धि करेगा। एक एक स्वयं पुरुष विवाह करने पर

दो तथा सन्तान प्राप्त करने पर बहुत हो जाता है। इस प्रकार वह तब तक बढ़ता ही जाता है, जब तक समस्त संसार को स्वयं अपने से अभिन्न नहीं समझने लगता। वह एकविश्व-व्यापी प्रेम की राशि में उस प्रेम की राशि में जो मूला है, ईश्वर है, अपना विस्तार करता है।

इस प्रकार हम भक्ति या उपासना की पराकाष्ठा पर पहुँचते हैं। इस अवस्था में पहुँच जाने पर हम मूर्तियों तथा पूजा अनुष्ठान आदि का परित्याग कर देते हैं। कोई भी व्यक्ति जो इस अवस्था को प्राप्त हो जाता है, वह फिर किसी भी सम्प्रदाय में नहीं रह जाता, क्योंकि समस्त सम्प्रदाय तो उसी में समाविष्ट हो जाते हैं। तब भला वह किसका होगा। क्योंकि सभी गिरजे और मन्दिर तो स्वयं उसी में समाविष्ट हो जाते हैं। इनका अखण्ड मन्दिर या गिरजा कहाँ होगा जिसमें कि वह प्रवेश कर सके। इस तरह का महा महिम पुरुष किसी भी परिसीमित पद्धति में अपने आपको आबद्ध नहीं कर सकता। जिस अनन्त प्रेम में मिलकर वह तन्मय हो गया है उसके लिए सीमा कहाँ है? जितने भी धर्म प्रेम के इस आदर्श को स्वीकार करते हैं इसे बोधगम्य करने के लिये उन सभी में प्रयत्न परिलक्षित होता है यद्यपि हम यह समझते हैं कि इस प्रेम का अर्थ क्या है। यह भी देखते हैं कि इस अनुराग और आकर्षण के संसार में जो कुछ भी है वह इस अनन्त प्रेम का ही प्रकार है। समस्त ऋषि तथा प्रत्येक राष्ट्र के सन्त इसके वर्णन के लिए प्रयत्न कर चुके हैं, परन्तु फिर भी हम देखते हैं कि इस सम्बन्ध में भाषा की शक्ति का उपयोग किया जा रहा है। इस अलौकिक वस्तु में बिलकुल सांसारिक भावना प्रदर्शित की जा रही है।

एक परम पूज्य हिब्रू महात्मा तथा भारतीय महात्माओं ने इस प्रकार गान किया है—ऐ प्रियतम, तेरे अधरों का एक चुम्बन दूसरी बार के चुम्बन की पिपासा उत्पन्न किये रहता है। जिसे एक बार इस चुम्बन का सौभाग्य मिलजाता है, वह सदा ही इसके लिये उत्कंठित रहता है।

उसे भूत, वर्तमान तथा भविष्य का स्मरण नहीं रह जाता, वह केवल तेरी ही चिन्ता करता रहता है। प्रेमी का यह उन्माद है। उस समय उसकी भारी अभिलाषायें जाती रहती हैं। मोक्ष की कौन परवा करता है। परित्राण की कौन परवा करता है। पूर्णता सिद्धि तक प्राप्त करने की अपेक्षा कौन करता है! मुक्ति ही किसके लिए अपेक्षित है! यह प्रेमी की राजी है।

मैं न तो धन सम्पति चाहता हूँ न सुन्दर और स्वस्थ शरीर चाहता हूँ। विद्या-बुद्धि की भी मुझे परवा नहीं है। मैं संसार के दुःख क्लेश के बीच में बार बार जन्म ग्रहण करता हूँ इसकी मुझे कोई शिकायत नहीं। परन्तु मैं सदा तुझ से प्रेम कर सकूं? उपर्युक्त कथन से भाव का जो आवेग व्यक्त होता है वही प्रेम का उन्माद है; मानव जाति सब से महत्वपूर्ण, सब से अधिक प्रभावोत्पादक, सबसे अधिक आकर्षक वह प्रेम जो एक स्त्री का पुरुष के प्रति तथा पुरुष का स्त्री के प्रति होता है। अतएव उपर्युक्त वाणी प्रगाढ़तम अनुरक्ति की अभिव्यक्ति के लिए निकाली गई हैं।

मानव प्रेम का यह उन्माद सन्तों के प्रेमोन्माद की क्षीणतम प्रतिध्वनि है। ईश्वर के जो सच्चे प्रेमी हैं वे उसी के प्रेम में उन्मत्त होकर अपनी सारी चेतना खो बैठना चाहते हैं, ईश्वर-प्रेम के नशे में ही चूर रहना चाहते हैं। वे प्रेम के उस प्याले को घूंटना चाहते हैं जिसे कि ऋषियों तथा प्रत्येक धर्म के सन्तों ने अपने हृदय का रक्त गिरा कर तैयार किया है, जिसमें उन ईश्वर-प्रेमियों की, भक्तों की सारी आशायें केन्द्रित हैं, जिन्होंने पुरस्कार के मोह के बिना केवल प्रेम के लिए ही ईश्वर से प्रेम किया है। ईश्वर में भक्ति की है।

प्रेम का पुरस्कार केवल प्रेम है। क्या ही उत्तम यह पुरस्कार है। यही, एक मात्र ऐसी वस्तु है जो मन के सारे शोक सन्ताप को दूरकर

सके, यही एक ऐसा प्याला है, जिसके बूंटने से मनुष्य की सांसारिक व्याधियां तिरोहित हो जाती हैं, मनुष्य में अलौकिक उन्माद आजाता है और उसे यह ध्यान ही नहीं रह जाता कि मैं मनुष्य हूँ। अन्त में हमें ज्ञात होता है कि आगे चल कर ये सब पद्धतियाँ एक स्थान पर, पूर्ण संयोग में क्रमशः मिलित होती हैं।

हम सदा ही द्वैतभाव से आरम्भ करते हैं, हमें यह अनुभव होता है कि ईश्वर एक पृथक सत्ता है और मैं एक पृथक। इन दोनों ही सत्ताओं के बीच में प्रेम आता है और मनुष्य ईश्वर की ओर अग्रसर होने लगता है। ईश्वर भी मनुष्य की ओर बढ़ता है। मनुष्य के जितनेभी माता-पिता, मित्र तथा प्रेमी आदि सम्बन्धी हैं, उन सब को वह हटा देता है, अन्तिम लक्ष्य पर पहुँच जाने पर, अपने पूज्यास्पद से मिल जाने पर, वह एक हो जाता है। मैं अपनी उपासना करता हूँ। वहाँ हमें अपनी अवस्था की, जिसमें हमने अपनी साधना आरम्भ की थी, परम उन्नति दिखाई पड़ती है। यह प्रेम आरम्भ में स्वयं के लिये है। परन्तु इस जरा से स्वयं का यदि प्रेम पर अधिकार होने लगा, तब प्रेम स्वार्थमय हो गया।

अन्त में जब किसी प्रकाश की पूर्ण दीप्ति उदित हो आती है, तब वही जरा सा स्वयं भूमा हो जाता है, अनन्त और अपरिमित हो जाता है। वही ईश्वर जो पहले एक पृथक सत्ता था, अब विश्लेषणों के द्वारा प्रमाणित हुआ है कि वह उसी अनन्त प्रेम का रूपान्तर हो गया था। वह ईश्वर की ओर अग्रसर हो रहा था, उन निरर्थक अभिलाषाओं को जिनसे कि उसका हृदय ओतप्रोत था, परित्याग कर रहा था। इन अभिलाषाओं के तिरोभाव के साथ ही सारी स्वार्थपरता भी विनष्ट हो गई। तब शिखर पर जाकर यह अनुभव किया कि प्रेम, प्रेमी तथा प्रेमपात्र तीनों ही एक हैं।

# कर्म योग

अपने जीवन में मैंने जितने भी पाठ पढ़े हैं; उनमें सबसे अधिक महत्व का यह है कि मनुष्य कर्म के शुभाशुभ फल पर जितना ध्यान रखता है उतना ही ध्यान, उसे उसके साधनों पर भी रखना चाहिए। जिसके चरणों के समीप बैठ कर मैंने यह पाठ पढ़ा है, वह एक बहुत ही महान् व्यक्ति था। उस महापुरुष ने इस महत्वपूर्ण सिद्धांत को अपने जीवन में क्रियात्मक रूप देकर इसकी उपयोगिता प्रदर्शित करदी है। उसी एक सिद्धांत से मैं सदा ही बड़े से बड़े पाठ पढ़ता रहा और मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि सारी सफलता का रहस्य उसी एक सिद्धान्त में है। सिद्धान्त यह है कि कर्म के फल पर जितना ध्यान रक्खें उतना ही ध्यान उसके साधनों पर भी रक्खें।

हम में यह एक बहुत ही बड़ा दोष है कि जीवन में आदर्श की ओर हम इतना अधिक आकर्षित होते हैं, हमारा लक्ष्य इतना अधिक मनोमुग्धकारी होता है, प्रलोभनों के द्वारा वह अपनी ओर हमें इस प्रकार खींच रखता है, हमारे मानस-क्षितिज में वह इतना फैलकर रहता है कि उस पर सूक्ष्म रूप से विचार करने का मुझे ध्यान ही नहीं रह जाता, परन्तु जब कभी असफलता होती है, उसके संबंध में यदि हम सूक्ष्म रूप से विचार करें तो सौ में निन्नानवे घटनाएं में ऐसी मिलेगीं जिनमें साधनों पर समुचित ध्यान न रखने के कारण ही हमें असफलता हुई है।

हमारे लिए जो वस्तु आवश्यक है, वह यह है कि उद्देश्य की पूर्ति के लिए जितने भी साधन आवश्यक हों, उन्हें पूर्ण करके सफल बनावें। यदि साधन अनुकूल और उचित रूप में हुए तो फल मिले बिना रह ही नहीं सकता। हम यह भूल जाते हैं कि कारण ही कार्य्य का उत्पादक है। कार्य्य अपने आप नहीं हो सकता, जब तक कारण

बिलकुल निर्दोष अनुकूल और सबल न हुआ तब तक कार्य्य की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। खूब सोच विचार कर हमने अपना आदर्श निश्चित कर लिया और उस पर पहुँचने के साधन भी निश्चित कर लिए, तब हम आदर्श की चिंता करीब करीब छोड़ भी सकते हैं, हमें विश्वास हो जाता है कि इन साधनों के द्वारा हम अभिलाषित आदर्श तक पहुँच ही जायँगे।

जहाँ कारण प्रस्तुत है वहाँ कार्य्य की उत्पत्ति में कोई विशेष कठिनाई नहीं है, कार्य्य का होना अनिवार्य्य है। यदि हम कारण पर ध्यान रक्खें तो कार्य्य की हमें चिन्ता ही न करनी पड़ेगी, वह अपने आप हो जायगा। आदर्श पर पहुँचने की साधना करना ही कार्य्य है और उस साधना के जितने भी साधन हैं, वे ही कारण हैं। इसलिए इन साधनों पर ध्यान रखना ही जीवन का एक बड़ा रहस्य है। यही बात हम गीता में भी पढ़ते हैं। गीता हमें यह सिखलाती है कि अपनी समस्त शक्ति का उपयोग करके हमें निरन्तर कर्म करते रहना चाहिए, हम चाहे जो भी काम करते हों, हमें एकाग्र मन से करना चाहिए। इसके सिवा हमें आसक्त न होना चाहिए।

तात्पर्य्य यह है कि हमें किसी प्रकार भी कर्म से विरत न होना चाहिए। परन्तु फिर भी हम देखते हैं कि हमारे अत्यधिक शोक का भी कारण यह कर्म ही है। हम किसी पदार्थ को ग्रहण कर लेते हैं और उसी के पीछे अपनी सारी शक्ति का प्रयोग करते हैं, कदाचित वह पदार्थ है अभाव। शोकप्रद होने पर भी हम उसका परित्याग नहीं कर पाते। हम जानते हैं कि यह हमें क्लेश देता है, आगे चल कर भी इसमें आबद्ध रहना अपने आप दुःख क्लेश को आमन्त्रित करना है। यह जानते हुए भी हम अपने आपको उससे विलग नहीं रख सकते।

मधुमक्खी छत्ते पर मधु चूसने के लिए बैठी। परन्तु उसके पैर छत्ते में फँस गये, अब वह निकलने नहीं पाती। अपनी दशा पर जब हम

विचार करते हैं, तब अपने आप को बारबार उसी मधुमक्खी की सी अवस्था में पाते हैं। जीवन का यही सारा रहस्य है। यहाँ हम किस लिए हैं? हम मधु चूसने के लिए आये हैं परन्तु अपने आप को जब देखते हैं, तो हमें अपने हाथ, पैर उस मधु में ही लिपटे हुए मिलते हैं। यहाँ हम ग्रहण करने के लिये आए हैं। किन्तु स्वयं निग्रहीत हो गये हैं। हम शासन करने के लिए आये हैं, किन्तु स्वयं शासित हो रहे हैं। यहाँ सुखोपभोग करने आये हैं, किन्तु स्वयं उपभुक्त हो रहे हैं। हम कर्म करने आये हैं किन्तु हमारे ही ऊपर कर्म किया जा रहा है। सदा ही हमें यह बात ज्ञात होती है। यह बात जीवन की हर एक बात में पाई जाती है।

हम सदा ही दूसरों के मस्तिष्क से प्रभावित हुआ करते हैं, यद्यपि दूसरों पर अपने मस्तिष्क, अपने विचारों का प्रभाव डालने के लिए सदा ही सचेष्ट रहते हैं। हम जीवन के सुख का उपभोग करना चाहते हैं, परन्तु वे ही हमारे जीवन को खा जाते हैं। हम प्रकृति से प्रत्येक वस्तु ग्रहण करना चाहते हैं परन्तु लम्बी दौड़ में हम देखते हैं कि प्रकृति प्रत्येक वस्तु हमी से ग्रहण करती है। वह हमें शून्य करती रहती है, हमारी अवहेलना करती रहती है।

यदि यह बात न होती, तो जीवन बहुत ही सुखमय होता। चिन्ता करने की बात नहीं है। तरह तरह को सफलता असफलता, तरह तरह के सुख और दुख क्लेश के बाद जीवन आनन्दमय, सुखी होगा ही। आवश्यकता केवल इतनी ही है कि हम स्वयं निग्रहीत बद्ध न हों।

दुःख क्लेश का यही एक कारण है कि हम निग्रहीत हो रहे हैं। बद्ध हो रहे हैं इसीलिए गीता का कथन है कि निरन्तर कर्म करते जाओ, आसक्त मत होओ, बन्धन में मत पड़ो। संसार के समस्त पदार्थों से संबंध विच्छेद करने की शक्ति अपने में बनाये रहो। मनुष्य में इतनी शक्ति होनी चाहिए कि वह इच्छानुसार किसी भी वस्तु से, चाहे वह उसे कितनी भी प्रिय क्यों न हो, अपना संबंध त्याग सके। मान लीजिये कि किसी

वस्तु के प्राप्त करने के लिए आप लोग व्यग्रभाव से प्रयत्न कर रहे थे, अन्त में बड़ी दौड़ धूप बड़े परिश्रम के बाद आप उसे प्राप्त कर सके हैं। वह एक ऐसी वस्तु है, जिसके हाथ से निकल जाने पर आप से क्लेश भी कम न होगा। परन्तु फिर भी आप में इतना आत्मबल होना चाहिये कि इच्छा होने पर किसी समय भी आप उस वस्तु का प्रसन्नभाव से परित्याग कर सकें, उस वस्तु में आपकी ज़रा भी आसक्ति न हो।

दुर्बल के लिए संसार में स्थान नहीं है। वह न तो इस जन्म में अपने लिए स्थान बना सकता है और न दूसरे ही जन्म में। दुर्बलता मनुष्य को दासता की ओर ले जाती है। दुर्बलता के ही कारण, मनुष्य को शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकार के क्लेश सहन करने पड़ते हैं। वास्तव में दुर्बलता मृत्यु है। हमारे चारों ओर लाखों की संख्या में कीटाणु फैले हुए हैं। परन्तु जब तक हमारा शरीर दुर्बल नहीं हो जायगा, तब तक उन सब का सामना करने की शक्ति हममें रहेगी, तब तक वे हमें ज़रा भी हानि न पहुँचा सकेंगे। सम्भव है कि हमारे इर्द गिर्द दुख क्लेश के लाखों कीटाणु उड़ रहे हों। परन्तु इसके लिए डरने की आवश्यकता नहीं है। जब तक हममें आत्मबल रहेगा, जब तक हममें मानसिक दुर्बलता न आ पावेगी तब तक ये सारे कीटाणु हमारे पास तक फटकने का साहस न करेंगे। यह एक महान् सत्य है। सबलता ही जीवन है और दुर्बलता मृत्यु। सबलता ही सुख है। जीवन चिरन्तन है, अमर है, दुर्बलता मृत्यु।

आसक्ति ही संसार के सारे सुखों की जड़ है। हमारी अपने मित्रों तथा सम्बंधियों में आसक्ति है, हम जितने भी शारीरिक तथा मानसिक कार्य्य करते हैं उन सभी में हमारा हृदय उलझा रहता है। हमारा मन बाह्य पदार्थों, भौतिक पदार्थों में रमा है। ऐसी बात क्यों है? वह इसलिए कि इन पदार्थों से हमें सुख मिलता है। परन्तु केवल यह आसक्ति ही मन का यह उलझना ही, हमारे सारे दुःखों का एक मात्र कारण है।

इसके अतिरिक्त भला ऐसा और कौन सा कारण हो सकता है ? सुख प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि इच्छा करने पर हम किसी पदार्थ के मोह से छुटकारा प्राप्त कर लें। इस विश्व प्रकृति का आनन्द तो वही सौभाग्यशाली प्राप्त कर सकेगा जो कि सभी वस्तुओं को अपनी समस्त शक्ति से अपना सके, परन्तु साथ ही साथ इन समस्त वस्तुओं का परित्याग करने की भी उसमें शक्ति हो।

संसार में ऐसे भी मनुष्य हैं जो कभी किसी भी वस्तु से आकर्षित नहीं होते। वे कभी किसी से प्रेम या स्नेह नहीं कर सकते, उनका हृदय बड़ा कठोर होता है, वे सभी के प्रति उदासीन रहते हैं। ऐसे लोग अधिकांश क्लेशों से बच जाते हैं। परन्तु दीवार तो कभी किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव करती नहीं। दीवार न तो प्रेम करती है न घृणा करती है और न उसे कभी किसी प्रकार की चोट ही लगती है। परन्तु अन्त में दीवार दीवार ही है। इसमें सन्देह नहीं कि दीवार की तरह कठोर हो जाने, स्नेह ममता, तथा सुख दुख से परे हो जाने की अपेक्षा आसक्त और निग्रहीत होना कभी अच्छा है। इसलिए वह व्यक्ति जो प्रेम नहीं करता, जो कठोर और जड़ प्रकृति का होता है और तरह तरह के दुःख क्लेश से बचता रहता है वह सुख से भी वंचित रह जाता है। हमें इस प्रकार की वृत्ति धारण करने की आवश्यकता नहीं है। यह तो दुर्बलता है, यही मृत्यु है। वह आत्मा जो दुर्बलता का अनुभव नहीं करती, जिसे किसी प्रकार का क्लेश सहन करने का अवसर नहीं पड़ता वह जागृत नहीं होती। आत्मा की वह अवस्था—आत्मा की कठोरावस्था जड़ अवस्था है। वह अवस्था हमारे लिए कल्याणकारी नहीं है।

हमें केवल इतनी ही बात की आवश्यकता नहीं है कि हम प्रेम करने की यह प्रबल शक्ति प्राप्त कर लें, हम आसक्ति की इस अपरिमित शक्ति के अधिकारी बन सकें, हममें तो वह शक्ति होनी चाहिए कि केवल एक मात्र उद्देश्य के पीछे अपनी आत्मा की समस्त शक्ति लगा सकें; दूसरों की

आत्मा के लिए अपनी आत्मा नष्ट कर सकें, अपने आपको मिटा दें। इस प्रकार की शक्ति देवताओं की शक्ति है। परन्तु हम तो देवताओं से भी अधिक उच्च होना चाहते हैं। जो व्यक्ति पूर्ण है, जिसने आत्मा का उत्कर्ष उपलब्ध कर लिया है वह अपनी आत्मा, अपनी समस्त शक्ति को एक मात्र प्रेम में ही तल्लीन कर सकता है। परन्तु इस प्रकार तल्लीन न होकर भी वह अनासक्त रहेगा परन्तु यह पूर्णता, आत्मा का यह उत्कर्ष, उपलब्ध कैसे किया जा सकता है ? यह एक दूसरा रहस्य है, जिसे सीखने की ज़रूरत है।

भिक्षुक कभी सुखी नहीं रहता। वह केवल मु ी भर अन्न पाता है, कोई दयालु हृदय का व्यक्ति उसकी दशा पर दुखी हो आदर से देता है और कोई चार बातें सुनाकर देता है। पर जो भी हो भिक्षुक सदा ही एक तुच्छ जीव, दया का पात्र समझा जाता है। उसे कोई सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता। समस्त दिन की दौड़ धूप के बाद वह जो कुछ पाता है, उसे क्या वह सन्तुष्ट हृदय से खाता है ?

हम सभी लोग भिक्षुक हैं। जो भी काम करते हैं उसके बदले में कुछ न कुछ चाहते अवश्य हैं। हम सभी लोग व्यापारी हैं। हम जीवन में व्यापार करते हैं, पुण्य में व्यापार करते हैं, धर्म कर्म में व्यापार करते हैं। हमें धिक्कार है प्रेम तक में इस वैश्य वृत्ति को नहीं त्याग सकते।

जहाँ आप व्यापार करने के विचार से चलते हैं वहाँ लेन देन का प्रश्न हो तो फिर उसी नियम पर आरूढ़ रहिए। व्यापार के लिए समय कभी अनुकूल रहता है और कभी प्रतिकूल। बाजार का भाव कभी स्थिर नहीं रहता, वह चढ़ता उतरता रहता है। इससे घाटा उठाने के लिए सदा ही तैयार रहना चाहिए। इस प्रकार की वृत्ति धारण करना आइने में अपने आप को देखना है। आइने के सामने खड़े होकर आप जिस प्रकार की अपनी मुखाकृति बनाते हैं, ठीक वैसे ही वह आइने में प्रतिबिम्बित होती है। यदि आप हँसते हैं तो आइने से भी आप ही

की तरह के किसी आदमी का हँसता हुआ चेहरा दिखाई पड़ता है। यही खरीदना और बेचना है, देना और लेना है।

हम निग्रहीत होते हैं; बन्धन में पड़ते हैं, कैसे? इसलिए नहीं कि हम कुछ देते हैं, बल्कि इसलिए कि हम कुछ चाहते हैं। प्रेम करके हम दुख पाते हैं। परन्तु दुख हमें इसलिए नहीं मिलता कि प्रेम करते हैं। हमारे दुख का कारण यह है कि हम प्रेम के बदले में प्रेम उपलब्ध करना चाहते हैं। जहाँ इच्छा नहीं है, चाह नहीं है, वहाँ दुख क्लेश भी नहीं हैं। हमारी अभिलाषायें, हमारे अभाव समस्त संकटों के आदि कारण हैं। इन्हीं की बदौलत हमें तरह तरह के दुख क्लेश सहन करने पड़ते हैं। अभिलाषायें सफलता और असफलता के नियमों से बँधी हुई हैं। ये दुखों को लाकर ही रहेंगी।

वास्तविक सफलता, वास्तविक सुख का महान रहस्य यह है कि जो व्यक्ति अपने किसी कार्य्य या वस्तु के बदले में कुछ नहीं चाहता, जो पूर्णरूप से निःस्वार्थ है, वही सबसे अधिक सफल है। यह बात सच होने पर भी असम्भव सी जान पड़ती है। हमें क्या यह नहीं ज्ञात है कि व्यक्ति निःस्वार्थ होता है वह दूसरों से ठगा जाता है, कष्ट पाता है? प्रकट रूप से तो यह बात सच ही है। ईसाई धर्म के प्रवर्तक महात्मा को ही ले लीजिए। वे निःस्वार्थ थे, उन्हें किसी से कुछ लेना देना नहीं था। परन्तु फिर भी वे मनुष्य के अत्याचार से बच नहीं सके। निर्दयभाव से मार डाले गये थे। बात बिलकुल ठीक है। परन्तु कौन नहीं जानता कि ईसा की निःस्वार्थता ही उनकी इतनी बड़ी विजय का एक मात्र कारण है। अपने इस निःस्वार्थ भाव की ही बदौलत आज वे लाखों ही नहीं, बल्कि करोड़ों व्यक्तियों के हृदय पर अधिकार कर सके हैं। इस त्यागमयी भावना के ही कारण आज लाख आदमी बड़ी ही श्रद्धा, बड़ी ही भक्ति के साथ उनका स्मरण करते हैं।

कोई वस्तु माँगिए नहीं, किसी को यदि कुछ दीजिये या उसका किसी प्रकार का उपकार कीजिये तो बदले में उस व्यक्ति से किसी प्रकार की आशा न कीजिए। आपको जो कुछ देना हो दे दीजिए। वह हज़ार गुणा अधिक होकर आपके पास लौट आवेगा। परन्तु आपको उसके लौटने या न लौटने की चिन्ता ही न करनी चाहिए। अपने में देने की शक्ति रखिए, देते चलिए। देकर ही फल प्राप्त कर सकेंगे। यह बात सीख लीजिए कि सारा जीवन दे रहा है। प्रकृति देने के लिए आपको बाध्य करेगी। इसलिए प्रसन्नतापूर्वक दीजिये। आज हो या कल, आपको किसी न किसी दिन त्याग करना पड़ेगा ही।

जीवन में आप सञ्चय करने के लिये आते हैं। संसार की सम्पदायें खूब मुट्ठी बाँध कर लिया करते हैं परन्तु प्रकृति आपका गला दबा कर आप से मुट्ठी खोलवा लेती है। जो कुछ आपने ग्रहण किया है वह देना ही पड़ेगा, चाहे आपकी इच्छा हो या न हो। जैसे ही आपके मुंह से निकलता है, 'नहीं, मैं न दूंगा,' उसी क्षण जोर का धक्का आता है। आप घायल हो जाते हैं। संसार में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो जीवन की लम्बी दौड़ में प्रत्येक वस्तु देने, परित्याग करने के लिए बाध्य न हो। इस नियम के प्रतिकूल आचरण करने के लिये जो जितना ही प्रयत्न करता है वह अपने आपको उतना दुखी अनुभव करता है।

हमारी इस शोचनीय अवस्था का कारण यह है कि परित्याग करने का साहस हम नहीं करते............इसीसे हम दुखी हैं। वन चला गया उसके बदले में हमें गर्मी मिलती है। सूर्य भगवान समुद्र से जल ग्रहण किया करते हैं। उसे वर्षा के रूप में लौटालने के लिए। आप ग्रहण करने और देने के यन्त्र हैं। आप ग्रहण करते हैं देने के लिए। इसलिए बदले में कुछ माँगिए नहीं। आप जितना भी देंगे, उतना ही लौटकर आपके पास आवेगा। इस कमरे में जितनी भी हवा है उसे जितनी ही शीघ्रता से निकाल दीजियेगा, बाहर की हवा से कमरा

उतनी ही शीघ्रता से भर जायगा। यदि आप कमरे के दरवाजों और खिड़कियों से लेकर छोटे छोटे सुराख तक बन्द कर दें तो भीतर की हवा वहाँ की वहाँ ही रहेगी अवश्य, परन्तु कमरे में फिर बाहर की हवा न प्रवेश कर सकेगी। कमरे की हवा बँधी रहेगी और वह विकृत होते होते विषैली हो जायगी। नदी निरन्तर बह कर अपना जल समुद्र में पहुँचा रही है और बाहर के जल से वह भरती भी जारही है।

इसलिये भिक्षुक न बनिए अनासक्त हूजिए। जीवन का यह बहुत ही भयङ्कर कार्य्य है। मार्ग में कितनी विपत्तियाँ हैं। उनकी आप गणना नहीं करते। इन कठिनाइयों को आध्यात्मिक दृष्टि से पहचानने का प्रयत्न करके भी हम तब तक नहीं पहचान पाते जब तक कि स्वयं उनका अनुभव करते रहते हैं। किसी बग़ीचे को दूर से देख कर भी हम साधारण तौर से उसका दृश्य देख सकते हैं। परन्तु उस तरह देखकर क्या हम यह समझ सकते हैं कि वास्तव में बगीचा कैसा है और उसमें कौन कौन से पौधे लगे हैं ? यह सब बातें तो हम तभी जान सकेंगे जब कि बगीचे में जाकर उसे देखें। चाहे हमें अपने समस्त प्रयत्नों में असफलता का ही अनुभव क्यों न करना पड़े, चाहे हमारे शरीर से रक्त की ही धारा क्यों न प्रवाहित हो रही हो, या शरीर के अंग प्रत्यंग खंड खंड क्यों न हो गये हों हमें अधीर किसी भी अवस्था में न होना चाहिए, इन समस्त आपदाओं में भी अपने ईश्वरत्व पर दृढ़ रहना चाहिए। प्रकृति हमारे समस्त कार्यों का उत्तर देना चाहती है। हमारे धक्के का वह धक्के से जवाब देती है, हमारी प्रवञ्चना के बदले में प्रवञ्चना करती है, और जब हम मिथ्या का आश्रय लेते हैं, तब वह भी मिथ्या का आश्रय ले कर ही हमें उत्तर देती है। हमारे शरीर में जितनी भी शक्ति की आवश्यकता है, उस सभी से वह टक्कर लेती है। इसलिए किसी ऐसी अलौकिक शक्ति की आवश्यकता है, जो कि प्रकृ`त के ठोकरों को व्यर्थ कर सके। उस पर नियन्त्रण रख सके और अनासक्त हो।

इस बात का निश्चय हम प्रति दिन ही किया करते हैं कि किसी भी विषय में आसक्त न होंगे। हम अपने अतीत जीवन पर दृष्टिपात करते हैं और देखते हैं कि हमारे प्रेम तथा आसक्ति का विषय क्या है? साथ ही यह भी अनुभव किया करते हैं कि इन समस्त विषयों में से किसने मुझे कितना दुखी बनाया है। अपने प्रेम के कारण हम निराशा के गर्त्त में गिर गये हैं। हमें यह भी ज्ञात हुआ कि हम दूसरों के तुच्छ दास भर हैं। हम उत्तरोत्तर पतन की खोह में ढकेले गये हैं। यह अनुभव होने पर हम फिर से नई प्रतिज्ञा करते हैं—आज से मैं स्वयं अपना स्वामी बन कर रहूँगा, आज से मैं अपने आप पर नियंत्रण रक्खूंगा विपथगामी न होने दूंगा। परन्तु समय आता है और हमें फिर वैसे का वैसा ही पना डालता है। आत्मा फिर बद्ध हो जाती है, वह मुक्त नहीं हो पाती। चिड़िया जाल में फँसी है, उससे छूटने के लिये बार बार छटपटाती और पर फटफटाती है। यही हमारा जीवन है।

कठिनाइयों को मैं जानता हूँ। वे बहुत ही भयङ्कर हैं। उन सब में पड़कर हम में से सैकड़ा पीछे निन्नानवे आदमी निरुत्साहित हो जाते हैं, उन सबका धैर्य्य जाता रहता है। इन कठिनाइयों में पड़ कर यह विश्व, यह संसार कष्टमय है, दुखों का आगार है। इस दशा में सचाई; प्रेम तथा अन्य समस्त वस्तुओं पर से जो कि महान और उत्तम है, हमारा विश्वास उठ जाता है।

यही कारण है कि हम लोगों को जब जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में देखते हैं, तो वे बहुत ही शान्त, क्षमाशील, दयालु, सरल तथा निष्कपट होते हैं। परन्तु वे ही लोग अवस्था अधिक हो जाने पर संसार भर की प्रवञ्चना सीख लेते हैं। उनका मस्तिष्क कुटिलता का आगार हो जाता है। सम्भव है कि ऊपर से देखने में इन लोगों की व्यावहारिक नीति इस तरह कटु न मालूम पड़े, मिज़ाज भी गर्म न हो और वे बोलें भी न परन्तु ये बातें इन लोगों में न होतीं तभी अच्छा था। इनका हृदय

शुष्क हो जाता है इसीलिए ये बोलते नहीं। ये न तो किसी को अभिशाप देते हैं और न किसी पर रोष प्रकट करते हैं। क्या ही अच्छा होता कि ये लोग क्रोध करने में समर्थ होते। अभिशाप देने के योग्य होना इससे हजार गुना अच्छा है। परन्तु वे ऐसा कर ही नहीं सकते। उनका हृदय तो मर चुका है। उनके हृदय में स्पन्दित होने की क्षमता ही नहीं रह गई है। इसलिये वह क्रियाशील नहीं हो पाता। अभिशाप तक देना, अपशब्द तक कहना उनको शक्ति से परे है। हमें इन सभी बातों से बचना चाहिए। इसीलिए तो कहता हूँ कि हमें ईश्वरीय शक्ति की आवश्यकता है, मानव शक्ति की विलक्षणता, अलौकिकता, काफी सबल न होगी उससे हमारा काम न चल सकेगा। हमारे लिए केवल एक मात्र शक्ति—ईश्वरीय शक्ति—शेष है। उसी से हमारा उद्धार हो सकता है। केवल इसी शक्ति के आधार पर हम इन समस्त कुटिलताओं से पार हो सकते हैं। इन सब विपत्तियों के धारा-सम्पात से अनाहत होकर भी हम टुकड़े टुकड़े हो सकते हैं, खण्ड खण्ड में विभक्त हो सकते हैं फिर भी हमारा हृदय सदा उत्तरोत्तर उन्नत, उत्तरोत्तर विशाल होता जायगा।

यह बात बहुत ही कठिन है, परन्तु निरन्तर के अभ्यास से इन सब कठिनाइयों से हम पार हो सकते हैं। हमें यह सीख लेना चाहिए कि जब तक हम स्वयं प्रवीण न हो जाँय जब तक हमारी बुद्धि विषय को तत्काल ग्रहण करने में समर्थ न हो सके, तब तक हमारा कुछ भी नहीं हो सकता। पहले हम कह चुके हैं कि शरीर जब तक पहले से निर्बल और रोग के अनुकूल न हो जाय तब तक कोई भी रोग नहीं हो सकता। रोग केवल कीटाणुओं के ही कारण नहीं होते। उनके लिए शरीर में पहले से क्षेत्र भी तैयार होना चाहिए। हम केवल वही पा सकते हैं, जिसके योग्य हों हमें अपना अभिमान त्याग देना चाहिए और यह समझना चाहिए कि बिना दुर्बलता के, बिना अपराध के, कोई दुख, कोई क्लेश नहीं आ सकता, जिस आघात के हम अधिकारी नहीं हैं। हमारे ऊपर कोई भी

ऐसा पाप नहीं सवार हो सकता जिसके लिए कि हम स्वयं अपने हाथ से रास्ता नहीं तैयार कर सके। यह बात हमें जाननी चाहिए।

अपने आप विश्लेषण कीजिए, तब आपको ज्ञान होगा कि मैंने जितने भी आघात सहन किए हैं। वे सब मेरे ऊपर पड़े हैं कि मैं स्वयं उनके लिए तैयार हुआ हूँ। आपके ऊपर जो आघात पड़ा है, जो विपत्ति आप को सहन करनी पड़ी है, उसका आधा अंश स्वयं आपने तैयार किया है और आधा बाह्य जगत के द्वारा, प्रकृति के द्वारा प्रस्तुत हुआ है। इसी तरह हमारे ऊपर आघात, हमारे ऊपर विपत्ति आती है। इसी तरह का विश्लेषण, इस तरह का सूक्ष्म और गम्भीर विचार हमें सावधान कर देता है, सचेत कर देता है। साथ ही इसी विश्लेषण से हमें यह भी आशा होती है यह भी ज्ञात हो जाता है कि बाह्य जगत् पर, इस विश्व प्रकृति पर हमारा कोई नियन्त्रण नहीं है, परन्तु जो बात हममें है, हमारे शरीर के भीतर है या हमसे बहुत समीप है, उस स्वयं अपने संसार पर मेरा नियन्त्रण है, मेरा अधिकार है।

यदि दोनों ही बाह्य जगत् और अन्तर्जगत्, आत्मा और विश्व-प्रकृति दोनों ही मेरे लिए, अभावों की सृष्टि करने, दुःख क्लेश पहुँचाने के लिए अपेक्षित हैं तो एक को, जिस पर मेरा अधिकार है, दूसरों में विश्व-प्रकृति में, मैं न सम्मिलित होने दूंगा, उसे नियन्त्रित कर रक्खूंगा, तब भला किसी प्रकार का आघात, किसी प्रकार का दुःख क्लेश मेरे समीप तक कैसे आ पायेगा। यदि मैं अपने आप पर वास्तविक नियन्त्रण रख सकूं, अपनी इन्द्रियों को वश में कर सकूं तो मुझे कोई क्लेश मिल ही नहीं सकता, मेरे ऊपर कोई विपत्ति आ ही नहीं सकती।

हम बाल्य काल से ही अपने अतिरिक्त किसी दूसरे के ऊपर दोषा-रोपण करने का प्रयत्न करते आ रहे हैं। दूसरों को उपदेश देने और उन्हें ठीक रास्ते पर चलाने का सदा ही दम भरते हैं, परन्तु हम स्वयं ठीक रास्ते पर नहीं चलते, बात बात में विपथ-गामी होते हैं। जब हम दुःखी

होते हैं तब कहते हैं कि र म दूसरों को अभि-
शाप देते हैं। उनकी निन्द हैं, इस संसार के
निवासी कितने मूर्ख, कितने तु यदि वास्तव में
हम इतने उत्तम हैं, इतने संसार में, इस
मूर्खों के देश में क्यों रहें? यह स म है तो हम भी
पापी ही होंगे धर्मात्मा कैसे हो सव हैं कि इस संसार के
लोग कितने स्वार्थी हैं। बात बिल . ठीक यदि हम श्रेष्ठ हैं,
तो ऐसे लोगों के साथ में कैसे रहें? ज़रा इ विचार कीजिये।

हम वही वस्तु पा सकेंगे, जिसके अ जब हम कहते हैं
कि संसार बुरा है और हम अच्छे हैं तो मान्य नहीं हो
सकती। हम स्वयं अपने मन में कहेंगे ि ंसार झूठ है।

सबसे पहिला पाठ जो हमें पढ़ना है , हम यह दृढ़ रूप से
निश्चय कर लें कि बाह्य जगत् की किसी भी हम निन्दा न करेंगे,
बाह्य जगत् की किसी वस्तु या व्यक्ति क न करेंगे। मनुष्य बनिए,
दृढ़ होकर रहिए, सारा दोष अपने ही जिए अन्त में आपको ज्ञात
होगा कि यह सदा सच है। अपने आ ढ़ रहिए।

हम अपनी मनुष्यता का दम भरते हैं और कहते हैं कि हम ईश्वर के अंश हैं, हम सर्वज्ञ हैं सर्व-शक्तिमान हैं। हम निर्दोष हैं, निष्कलङ्क हैं हमारे समान निःस्वार्थ व्यक्ति संसार में दूसरा कोई नहीं है। इस कथन के चण भर बाद ही पत्थर का एक जरा सा टुकड़ा आता है और हमें घायल कर देता है। एक छोटा सा बच्चा क्रुद्ध होकर कोई ऐसी कटु बात मुंह से निकाल देता है, जिसके कारण हमारे हृदय पर चोट पहुँचती है। कोई भी राह चलता हुआ मूर्ख भी हमें, जो कि ईश्वर के अंश हैं, दुखी बना देता है। क्या यह लज्जा की बात नहीं है? यदि हम वास्तव में ईश्वर के अंश होते तो क्या ये सब बातें कभी हो सकती थीं? क्या वास्तव में यह संसार दोषी ठहराया जा सकता? क्या ईश्वर जो समस्त

आत्माओं से शुद्ध और उत्कृष्ट है हमारी किसी भी चालाकी से दुःखी बनाया जा सकता था ? यदि आप इतने निःस्वार्थ हैं तो ईश्वर के समान हैं। कौन सा ऐसा लोक है, जिसमें आपको ज़रा भी दुख मिल सके। आप अक्षत शरीर से सातवें स्वर्ग को पार कर जायँगे। परन्तु आप तो वाह्य जगत् की निन्दा करते हैं। अपने दुःखों तथा कठिनाइयों के लिये उसे दोषी ठहराने को कोशिश किया करते हैं। इससे यह सिद्ध है कि आप वाह्य जगत् को सत्ता का अनुभव करते हैं। उसे अपने से भिन्न मानते हैं।

हमारा यह अनुभव, हमारी यह धारणा यह सिद्ध करती है कि हम अपने आप को जो कुछ समझते हैं, जो कुछ बनाने का दावा करते हैं, वह नहीं हैं। आप कल्पना करते हैं कि यह वाह्य जगत् हमें पीड़ित कर रहा है। इससे हम चिल्ला पड़ते हैं हाय अमुक व्यक्ति हमारे शरीर को चत-विचत कर रहा है, यह आदमी हमें मारता है, वह आदमी हमें गालियां देता है! इस प्रकार की भावना के कारण आप अपने अपराध को और भी बढ़ाये जा रहे हैं। एक एक करके कितने ही दुःख क्लेश की राशि संग्रह कर रहे हैं।

हमें स्वयं अपनी रक्षा अपने आप करनी है। इतना ही भर हम कर सकते हैं। हमें दूसरों की सेवा सुश्रूषा करना भी त्याग देना चाहिए। आइए, हम साधन को ही पूर्ण और निर्दोष बनावें, फल अपनी चिन्ता अपने आप कर लेगा। संसार उत्तम और पुण्यमय तभी हो सकेगा जब कि हमारा जीवन पवित्र और विशुद्ध होगा। यह एक कार्य्य है और हम इसके कारण हैं। इसलिए आइए, हम सब अपने आप को पवित्र बनावें। हम सब स्वयं पूर्ण बनें।

---

सूचना—इस संग्रह के कई लेख स्वामी जी के अमेरिका में दिए व्याख्यान हैं।

# षट्कर्म मुद्रा-प्रयोग

अर्थात्

## योग के छः कर्म और मुद्राएँ

[ ले० महात्मा आनन्द स्वरूप जी ॐ ]

इस षट्कर्म मुद्रा-प्रयोग नाम के पुष्प में जो कुछ भी लिखा गया है वह सचमुच ही एक प्राकृतिक दिव्य जीवन का अभ्यास है जिसके अभ्यास से आप बारह ही मास में कायाकल्प कर सकेंगे। इसके पहले प्रकरण में प्राकृतिक शरीर एवं आन्तरिक शुद्धि के साधन बताये गये हैं जो चीरा-फाड़ी से अधिक रोग मल, विकृत पदार्थों का नाश करके मनुष्य को दिव्य औषधि रूप बना देते हैं जिनका जीवन अपने ही लिए नहीं अपितु मनुष्य-समाज के लिए ही औषधि रूप हो जाता है। औषधि शब्द का अर्थ ही दोषों को धोनेवाली वस्तु का होना है। इन षट्कर्मों के जानने वाले साधक ही समाज में औषधि रूप हुआ करते हैं। अस्तु इन षट्कर्मों के अभ्यास से मनुष्य के सर्व दोष रोग नाश होकर उसे दिव्य जीवन प्राप्त होजाता है। वैसे ही दूसरे प्रकरण की मुद्राओं से सैकड़ों नहीं अपितु हजारों शारीरिक रोगों का नाश होकर साधक को दिव्य आरोग्यता प्राप्त होती है और शारीरिक बल में वृद्धि होकर मनुष्य शिव संकल्प रूप हो जाता है। कितनी मुद्राओं से मनुष्य के प्राणों को वह बल प्राप्त हो जाता है जिससे प्राण मृत्यु को अमृत में बदलने की शक्ति प्राप्त कर लिया करते हैं। तभी तो कहा है कि मुद्रा स्थिरतां चैव मुद्राओं से शरीर में मन में प्राणों में और जीवन में स्थिरता आती है।

मूल्य ।≡)